

के०के० विडला फाउंडेशन  
व्याख्यान माला

प्रो० दयाकृष्ण



भारत की बौद्धिक परम्पराएं  
और उनका भविष्य



१२ व १३ अक्टूबर, १९९५



सरस्वती नः  
सुभगामयस्करत

के०के० विडला फाउंडेशन

प्रो० दयाकृष्ण  
के  
व्याख्यान

“भारत  
की  
बौद्धिक परम्पराएं  
और  
उनका भविष्य”

के०के० बिड़ला फाउंडेशन

१०वीं मंजिल, हिन्दुस्तान टाइम्स हाऊस  
१८-२०, कस्तूरबा गांधी मार्ग, नई दिल्ली-११०००१

## भूमिका

के. के. बिड़ला फाउंडेशन ने कुछ वर्ष पहले दो व्याख्यान मालाएं आरम्भ की थीं। एक शृंखला के अन्तर्गत विदेश के साहित्यकारों, विद्वानों के व्याख्यान आयोजित किये जाते हैं। इस शृंखला में अब तक मॉरीशस के श्री अभिमन्यु अनत और इंग्लैण्ड के लॉर्ड रीस मौग के व्याख्यान हुए हैं। दूसरी शृंखला में देश के विशेषज्ञ विद्वानों के विभिन्न विषयों तथा समस्याओं पर व्याख्यानों का कार्यक्रम होता है। इस शृंखला का शुभारम्भ स्व. प्रो. श्यामाचरण दुबे के 'परम्परा की प्रासंगिकता' पर दिये गए तीन व्याख्यानों से हुआ। उसके बाद प्रो. दयाकृष्ण के १२ व १३ अक्टूबर, १९९५ को 'भारत की बौद्धिक परम्पराएं और उनका भविष्य' पर दो व्याख्यान हुए।

हमारा यह प्रयत्न है कि इन सभी व्याख्यानों को प्रकाशित किया जाये जिससे यह उन्हें भी उपलब्ध हो सकें जो व्याख्यान सुनने के लिए उपस्थित नहीं हो सके। हमें आशा है कि प्रो. दयाकृष्ण के ये व्याख्यान और उन पर प्रतिक्रियास्वरूप दिये गये प्रो. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय और प्रो. वाचस्पति उपाध्याय के विचार इस विषय पर आगे सोचने के लिए प्रेरित करेंगे।

हमें खेद है कि कुछ अपरिहार्य कारणों से इन व्याख्यानों के प्रकाशन में विलम्ब हुआ।

*Lawrence G.*  
(बिशन टंडन)  
21.2.97  
निदेशक

के.के. बिड़ला फाउंडेशन  
नयी दिल्ली

२१ फरवरी, १९९७

**श्री विशन टंडन :** फाउण्डेशन के इस आयोजन में आप सबका स्वागत है। व्याख्यानमाला का यह कार्यक्रम पिछले वर्ष ही आरम्भ किया गया है। पिछले वर्ष प्रो० श्यामाचरण दुबे ने 'परम्परा की प्रासंगिकता' पर व्याख्यान दिया था। इस वर्ष यह कार्यक्रम पहले फरवरी में आयोजित करने का निश्चय किया गया था लेकिन कुछ कारणों से उसे स्थगित करना पड़ा और यह अब ही हो पा रहा है। हम प्रतिवर्ष दो व्याख्यान मालाओं को आयोजित करने का प्रयास कर रहे हैं, जिनमें से एक आयोजन यह व्याख्यानमाला है जिसमें हम किसी अपने ही देश के विद्वान को बुलाकर व्याख्यान का प्रबन्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त पिछले वर्ष से हमने एक और व्याख्यान-शृंखला आरम्भ की है जिसमें हम किसी विदेशी विद्वान को बुलाते हैं। गत वर्ष मारिशस के अभिमन्यु अनतजी को इसके लिए आमंत्रित किया गया था। उन्होंने दो व्याख्यान दिए थे। यह संयोग है कि उस कड़ी के अन्तर्गत जो पहले व्याख्याता रहे, वे हिन्दी के जाने-माने लेखक हैं लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि हम विदेश से जो विद्वान बुलाएँ वे हिन्दी के ही विद्वान हों, वे किसी भी भाषा के विद्वान हो सकते हैं। इस वर्ष भी हम प्रयत्नशील हैं कि कोई बहुत ही प्रसिद्ध और योग्य व्यक्ति आकर उस कड़ी की दूसरी व्याख्यानमालाओं में व्याख्यान दे। श्री दयाकृष्णजी, जिन्होंने हमारा निमंत्रण स्वीकार किया, वे आपके समक्ष दो व्याख्यान देंगे। श्री गोविन्दचन्द्र पाण्डेयजी आज इस आयोजन की अध्यक्षता करेंगे। किसी को भी इनके परिचय की आवश्यकता नहीं है और इसलिए औपचारिकता में करना भी नहीं चाहूँगा और दयाकृष्ण जी से अनुरोध करूँगा कि वे अपना व्याख्यान दें।

**श्री दयाकृष्ण:** मैं कोई औपचारिक भाषण देने वाला नहीं हूँ। मैं आपके सामने जो सवाल उठाना चाहता हूँ, वह यह है कि आखिर संस्कृति या सभ्यता का प्रारम्भ कैसे होता है? मैं इस बारे में आपके सामने एक नया विचार प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिसे लोग प्रायः स्वीकार नहीं करते। आप सोचिए कि इस भाषणमाला की परम्परा कैसे शुरू हुई? दुबे जी ने एक भाषण दिया जिसका शीर्षक था 'परम्परा की प्रासंगिकता'। पाण्डेयजी ने बहुत पहले एक भाषण 'परम्परा के मूल स्वर' विषय पर दिया था। मैं उनसे एक सवाल पूछना चाहूँगा कि यदि किसी को खड़े

होकर कहना पड़ा कि परम्पराएँ प्रासंगिक हैं, अब सवाल है कि वे क्यों कर लुप्त हुई हैं? इस सवाल को उठाने का उद्देश्य यह है कि हमारे विद्वान साथी और परम मित्र, जो दोनों हैं, उनके मन में, जब उनसे भाषण देने को कहा गया, तो ऐसी बात क्यों उठी? मैंने कई बार सोचा है कि भाषण किस चीज पर दिया जाए, कई शीर्षक मेरे दिमाग में आए- 'अन्धेव नीयमाना' दूसरा शीर्षक आया 'या इलाही यह माजरा क्या है', फिर मैंने सोचा कि कोई ठीक शीर्षक रखा जाए। धीरे-धीरे आपको पता चलेगा कि यह शीर्षक मैंने क्यों चुना, लेकिन इस बीमारी का हल या निदान क्या हो, पहले तो यह ढूँढना पड़ेगा कि मर्ज क्या है, बीमारी क्या है और हम किस चीज की तलाश में हैं, क्या चीज खो गई है और खोई क्यों है? और अगर खो गई है तो कैसे? उसके मूल में अनेक बातें कही जा सकती हैं लेकिन मैं दो बातें ही आपके सामने रखना चाहता हूँ।

आज हमारे देश में जितने पढ़ने-लिखने वाले लोग हैं, उनमें एक ऐसा विभाजन-सा हुआ है, जिसके बारे में हमें पता ही नहीं है कि कोई विभाजन भी हुआ है। जब कोई चीज इतनी व्यापक हो जाए जिसके बारे में पता ही न चले, तो वह हमारे संस्कारों को नियमित करती है, वह हमारी दृष्टि को नियमित करती है, क्योंकि हमें पता ही नहीं होता कि वह क्या है जो हमें नियमित कर रही है। मैं आपके सामने एक हल्की-सी तस्वीर उभारना चाहता हूँ कि आखिर हुआ क्या है? पिछले १५० सालों में, १८५७ से, यहाँ कई विश्वविद्यालय बने, उन ३० विश्वविद्यालयों के माध्यम से हम लोग पढ़े हैं, बड़े हुए हैं और एक तरह से हम सब लोगों ने हिन्दुस्तान को देखने की प्रक्रिया, चाहे कोई इतिहास का विद्यार्थी हो, चाहे समाज-शास्त्र का हो, दर्शन का हो, किसी भी विषय का हो, वह उस प्रणाली की देन है जो हमारे विश्वविद्यालयों में अध्यापन की प्रणाली है। उस प्रणाली ने एक विभाजन किया है, अंग्रेजी पढ़ने वाले लोगों में और जो लोग ऐसा कहते हैं कि हम हिन्दी में या प्रान्तीय भाषाओं में पढ़े हैं, जिनके बारे में आजकल कहा जाता है कि इसका अंग्रेजी वालों की परम्परा से कोई फर्क नहीं है, क्योंकि जो ढाई हजार साल से ज्यादा की पढ़ने-लिखने या पढ़ाने

की परम्परा थी, यह उससे अलग हो गई। आप सोचिए कि जिस संस्कृति की आप बात करते हैं और कहते हैं कि बड़ी पुरानी थी, जिस पर आप गर्व करते हैं, लेकिन वह कैसे चली, कैसे बढ़ी, कैसे रही? यदि आप मान लें कि तीन हजार साल तक वह रही तो कैसे रही? उस समय तो शिक्षा की परम्परा नहीं थी, फिर क्या परम्परा थी? उस वक्त कोई सवाल नहीं पूछता था कि यह परम्परा प्रासंगिक है या नहीं। उस वक्त कोई ऐसे सवाल नहीं पूछता था कि हमारी परम्परा के मूल स्वर क्या हैं? ऐसे सवाल उठाने की जरूरत क्यों महसूस हुई? वह इसलिए हुई क्योंकि मुश्किल से १५० सालों में कई ऐसी बातें हो गईं कि हम सब लोग यह सवाल पूछने लगे। जब तक हम इस बात से अवगत नहीं होंगे, इस बात को वाकई आत्मसात् नहीं करेंगे कि आखिर ऐसा क्या हुआ जिसकी वजह से हम सब लोग ऐसे सवाल पूछने लगे हैं कि हमारी अस्मिता क्या है? क्यों हम उस अस्मिता की खोज में लगे हुए हैं? निर्मल जी ने ठीक कहा-भारतीय अस्मिता की खोज-लेकिन हम क्या 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' के लेखक की खोज की जैसी खोज करना चाहते हैं? हम जिस मुल्क में पैदा हुए, जहाँ रहते हैं उसके बारे में पूछते हैं कि यह मुल्क क्या है? आखिर इस सवाल की जड़ में क्या है? मैं आपके सामने १५० साल का इतिहास तो नहीं रख सकता, न मैं उसके काबिल हूँ, लेकिन मैं आपसे कुछ बातें जरूर कहना चाहूँगा।

ऐसा हुआ है कि हम अपने मुल्क को, अपने देश को उस नजर से देखने लगे हैं, जिस नजर से बाहर के लोग देखते हैं। हम खुद इस देश में बेगाने हो चुके हैं। जब तक हम यह जानेंगे नहीं, महसूस नहीं करेंगे, तब तक आगे की बात करना मुश्किल है। आप सोचिए कि हमारे सभी विद्वान, बड़े से बड़े लोग किस काम में लगे हुए हैं? मुझे कभी-कभी आश्चर्य होता है कि आज इतने कोष क्यों बन रहे हैं? जिसे देखो वह कोष बनाने में लगा हुआ है या 'मैन्यूस्क्रिप्ट' इकट्ठा करने में लगा हुआ है या 'लाइब्रेरी' बनाने में लगा हुआ है या 'ट्रांसलेशन' करने में लगा हुआ है। गंगानाथ झा बैठकर क्या कर रहे थे? वे शबर भाष्य का अनुवाद कर रहे थे या वात्स्यायन के न्याय सूत्र पर भाष्य का अंग्रेजी में अनुवाद कर रहे थे, किसलिए कर रहे थे? जिस मुल्क में वात्स्यायन ने भाष्य

लिखा था, सब लोग उसे पढ़ते थे, जानते थे, फिर एकाएक क्या हुआ, ऐसी क्या जरूरत महसूस हुई कि उसका अंग्रेजी में अनुवाद किया जाए? अगर कोई अंग्रेज या बाहर का आदमी ऐसी जरूरत समझे तो मेरी समझ में आता है कि वह अपने लोगों के लिए कर रहा है, अपने लोगों को उस चीज से अवगत कराना चाहता है जो उसके देश में नहीं मिलती, परन्तु हिन्दुस्तान का आदमी अंग्रेजी में लिखकर क्या बताना चाहता है, किसे बताना चाहता है? यदि आप इसे 'रिनैसाँ' कहते हैं तो यह 'रिनैसाँ' नहीं है। राममोहन राय से लेकर अब तक क्या हुआ? हम किसे दिखाना चाहते हैं कि हमारे यहाँ भी कुछ है और अगर हम अपने लिए ही यह सब कर रहे हैं तो इसका मतलब यह होगा कि हमारे लोग उस भाषा और परम्परा से अलग हो चुके हैं जो परम्परा पहले उनके प्राण में थी, उनकी बुद्धि में थी, उनके अन्तःस्थल में थी। उसे अब कैसे आत्मसात् करेंगे? इस तरीके से आत्मसात् नहीं हो सकती। हम क्या उससे विलग हो चुके हैं, और अगर विलग हुए हैं तो कैसे हुए हैं? विलग होने का भी एक तरीका है, जो उस पढ़ने और पढ़ाने के तरीके का नतीजा है जिसे हम १५० सालों से करते आए हैं और जिसमें हम सब पले-बढ़े और पड़े हैं। हमारे यहाँ कितने कोष बने, उनका इस्तेमाल कौन कर रहा है? पहली बात जो मैं आप लोगों के सामने उठाना चाहता हूँ वह यह है कि परम्परा इस तरीके से आत्मसात् नहीं होती। फिर कैसे होती है-अंग्रेजी में दो शब्द हैं एक 'कल्चर' है और दूसरी 'सिविलाईजेशन' है-यदि हिन्दी में कहें तो हम संस्कृति और सभ्यता कह कर भेद करते हैं, लेकिन वास्तव में वह वैसा भेद नहीं है जो अंग्रेजी में 'कल्चर' और 'सिविलाईजेशन' शब्दों से इंगित किया जाता है। मैं आपके सामने इस भेद को नए रूप में प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

एक प्रकार से संस्कृतियाँ हजारों हैं लेकिन सभ्यताएँ बहुत कम हैं। यदि हम टॉयन्बी के लिखे इतिहास पर दृष्टि डालें तो बहुत कम, करीब २०-२५ सभ्यताओं का पता चलता है जबकि वास्तव में उससे भी कम उनकी संख्या है। यह भेद क्या है, इसे मैं आपके सामने इस तरह रखना चाहता हूँ कि जब प्राणी आत्मचिन्तन करता है तो अपने को विषय-रूप में देखता है। और जब वह अपने को विषय-रूप में देखता है। तब

उसके सामने हर चीज, उसका हर क्षेत्र विषय-रूप में प्रस्तुत होता है। आप थोड़ा इस पर विचार कीजिए कि जब वह अपनी आत्म-चेतना के उन विषयों के ज्ञान को शास्त्र रूप देता है तब एक नया भेद उत्पन्न होता है। वह भेद किस प्रकार का है-वह औचित्य भेद है, अच्छे-बुरे का भेद है। जैसे ही शास्त्र बनता है, शास्त्र एक आत्मचिन्तन की प्रक्रिया से उत्पन्न होता है। उसमें मनुष्य प्रथम दृष्टि में जो सहज प्रतीत होता है उसको ही प्रश्न सूचक दृष्टि से देखता है। आप भाषा की बात लीजिए-हर आदमी भाषा बोलता है। ऐसा कोई समाज नहीं है जिसमें भाषा नहीं बोली जाती। लेकिन ऐसे बहुत कम समाज हैं जिनमें भाषा का व्याकरण बनता है, भाषा-शास्त्र का रूप लेती है। लेकिन जैसे ही भाषा शास्त्र का रूप लेती है तब एक नई बात उत्पन्न होती है। हमारे समाज में कुछ ठीक बोलने वाले होते हैं और कुछ गलत बोलने वाले। जैसे ही भाषा का शास्त्र बनता है, संस्कृत और भाषा का भेद उत्पन्न होता है-कहा जाता है कि यह आदमी सुसंस्कृत है क्योंकि यह संस्कारयुक्त भाषा बोलता है, ठीक उच्चारण करता है, उसे पता है कि कहाँ से 'क' बोलना है और कहाँ से 'ख' बोलना है। दूसरी ओर जिसने उस तरह से बोलना नहीं सीखा है, वह मामूली आदमी है। देशी और मार्गी का भेद, जिसकी आजकल बहुत चर्चा है, वास्तव में वह शास्त्र से निकलता है। जैसे ही शास्त्र बनता है, वह मार्ग देता है, लोग कहते हैं कि वह शासन करता है, लेकिन वह शासन कैसे करता है? उनकी बात छोड़िये। वह शासन ज्ञान से करता है, धन या शक्ति से नहीं। जब ज्ञान शास्त्र का रूप लेता है तब वह समाज में एक नये भेद को उत्पन्न करता है। वह नया भेद सुसंस्कृत और असंस्कृत का है। संस्कृत और असंस्कृत का अर्थ इस संदर्भ में कुछ भिन्न है क्योंकि वैसे तो मनुष्य होना ही संस्कृति से युक्त होना है, लेकिन जिन 'ख' संस्कारों की हम बात कर रहे हैं वे संस्कार कुछ अन्य प्रकार के संस्कार हैं।

इन संस्कारों के मूल में बुद्धि है, क्योंकि शास्त्र-बुद्धि की रचना होती है। जब पाणिनी शास्त्र बनाते हैं तो वह बुद्धि की रचना होती है जिससे समाज में एक नया भेद उत्पन्न करते हैं। जब भरत नाट्य-शास्त्र बनाते हैं तब वे कुछ ऐसे मानदण्डों का निर्माण करते हैं जिनके आधार पर

हम यह कहते हैं कि यह ठीक है, यह गलत है। जब तण्डु नृत्य के बारे में सोचते हैं तो वे एक शास्त्र की रचना करते हैं। इस प्रकार से अनेकानेक शास्त्रों की रचनाएँ होती आई हैं। इस प्रकार की रचना वास्तव में सभ्यता का प्राण है। वह प्राण किस प्रकार का है, उस प्राण के बारे में थोड़ा सोचिए। जैसे ही अनेकानेक शास्त्रों की रचना होती है, तब नई प्रकार की समस्याओं का जन्म होता है। वे समस्याएँ शुद्ध बौद्धिक होती हैं। यदि शास्त्र नहीं रचा जाता तो वे समस्याएँ भी उत्पन्न नहीं होतीं। शास्त्र की रचना से ही शुद्ध बौद्धिक समस्याएँ जन्म लेती हैं, जिनसे फिर एक स्वतंत्र परम्परा बनती है।

शास्त्र के दो आयाम होते हैं—एक आयाम उससे संबंधित है जिस विषय का वह शास्त्र है, जिस विषय के ज्ञान को उसने संगृहीत करके समन्वित रूप दिया है। समन्वित रूप रचने की यह जो चेष्टा है वह अन्य प्रकार की बौद्धिक समस्याओं को जन्म देती है। यास्क को लीजिए, पहले यास्क निरुक्त में अनेकानेक समस्याएँ उठाते हैं। वे कभी कहते हैं कि वाक्य संज्ञा-प्रधान होता है, कभी कहते हैं कि वह क्रिया-प्रधान होता है। यास्क की समस्या क्या है? हम रोज जो कुछ बोलते हैं उसे सब लोग समझते हैं? फिर आपने यह क्या समस्या उठा दी कि वाक्य संज्ञा-प्रधान होता है या क्रिया-प्रधान होता है? यदि हम उसे संज्ञा-प्रधान मानते हैं तो उससे अर्थ एक दिशा लेता है और यदि आप क्रिया-प्रधान मानते हैं तो दूसरे प्रकार की। जब मीमांसा-सूत्र जैमिनी द्वारा लिखा गया तो उसमें उन्होंने वाक्य को क्रिया-प्रधान कहा। ऐसे ही वादरायण ने ब्रह्मसूत्र में वाक्य को संज्ञा-प्रधान माना है। समस्या यह थी कि वाक्य का अर्थ कैसे उत्पन्न होता है? एक और समस्या यह थी कि वाक्य का अर्थ शब्दों के मिलने से उत्पन्न होता है या वह शब्द से भिन्न होता है? वाक्य का कोई एक ही अर्थ होता है या शब्द से या अन्य वाक्यों से मिलकर एक से अधिक भी होता है? अर्थ का आधार कहाँ है? इस तरह की अनेकानेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। वे समस्याएँ तब उत्पन्न नहीं होतीं जब शास्त्र नहीं बनता। मैं यहाँ किन्हीं अन्य शास्त्रों की चर्चा नहीं करूँगा लेकिन कहने की बात सिर्फ यह है कि जैसे ही ज्ञान शास्त्र का रूप लेता है तब शुद्ध बौद्धिक समस्याएँ और एक परम्परा जन्म लेती

है। उस परम्परा में लोग पढ़ते हैं, और जो लोग पढ़ाए जाते हैं वे उसमें 'संस्कृत' होते हैं और उन संस्कारों से परम्परा बनती है। वे संस्कार चलते रहते हैं और हर पीढ़ी उन्हें आगे ले जाती है, उनमें परिष्कार करती है, खण्डन-मण्डन करती है और इस तरह परम्पराओं का जन्म होता है।

हम अपने बारे में सोचें तो कैसे सोचें? मान लीजिए अगर कोई ऐसी संस्कृति हो जहाँ संगीत है, नृत्य है, चित्र है, जहाँ दुनिया भर की सब बातें हैं, थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि वहाँ कविता भी है, साहित्य भी है, उपन्यास भी है, लेकिन यदि यह सब होने पर कोई अपने बारे में सोचे तो कैसे सोचेगा। क्या तस्वीर देखकर सोचे, नाच को देखकर या गाने को सुनकर सोचे? ऐसे नहीं होता है। यह मैं नहीं कह रहा हूँ। यह समझना गलत होगा कि मैं यह कह रहा हूँ कि इन कलाओं का और इन सब चीजों का कोई अपना महत्व नहीं है, उनमें मनुष्य अपने को नहीं देखता। देखता है किन्तु जब वह देखता है तब उसमें कुछ नया घटित होता है और वह अपने को उसमें परिलक्षित पाता है। अगर हम पूछें कि भाई, आपने क्या समझा? तो क्या वह आसानी से जवाब दे सकता है? थोड़ी देर के लिए इस बात पर सोचिए कि कला की बात करना क्यों मुश्किल है? आप अच्छी कविता पढ़ लीजिए, फिर आपसे पूछा जाए कि कविता कैसी है, उसके बारे में बताइए तो इसका उत्तर देना तक करीब-करीब असंभव होगा, तब तक कि उसके बारे में पहले से शास्त्रीय-चिन्तन न हुआ हो। बार-बार ऐसा लगता है कि कविता फिर से पढ़ लो, कहानी फिर से पढ़ लो। इसके बारे में बात करके क्या कोई चीज पकड़ी जा रही है? ऐसा लगता है कि कुछ पकड़ा नहीं जाता। वास्तव में उसका जो मूल है, तत्त्व है, रहस्य है, वो भाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। यदि आप उसे भाषा में आबद्ध करेंगे तो फिर वह एक काव्य की भाषा हो जाएगी, साहित्य की भाषा हो जाएगी। इसलिए उसे पकड़ने के लिए कोई और भाषा चाहिए। वह भाषा मेरे विचार में दर्शन की भाषा है, वह प्रत्ययों का जगत् है। प्रत्ययों से आप अपने को पकड़ते हैं। यह प्रत्ययात्मक जगत् है जो भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शास्त्र उत्पन्न करता है। उसमें यदि आपकी

गति नहीं है, आपकी पकड़ नहीं है तो आप उस परम्परा में उतर ही नहीं सकते, डूब ही नहीं सकते, चलने की बात तो सोची भी नहीं जा सकती।

परम्परा यह कहने से नहीं बनती कि परम्परा होनी चाहिए। यदि गाना सीखना हो तो वह गाकर ही आएगा, अगर चिन्तन करना हो तो चिन्तन करने से ही आएगा। लेकिन चिन्तन करने के लिए आपके पास माध्यम क्या है? वे सब माध्यम पश्चिम के हैं जो आज हमारे पास दिये हुए हैं। वैसे मैं पूर्व और पश्चिम के भेद को मानता नहीं हूँ क्योंकि विचार सार्वभौम होता है। गाना, संगीत और परम्पराएँ हर देश में भिन्न होती हैं, लेकिन अगर हम कहें कि विचारों की परम्पराएँ भी विभिन्न हैं तो अजीब लगता है, क्योंकि आखिर विचार तो सार्वभौम है, वह सत्य की पकड़ करता है और सत्य कभी प्रान्तीय नहीं हो सकता। सत्य किसी संस्कृति से सीमित भी नहीं होता। हम लोग आज जिस परम्परा में पढ़े हुए हैं उसमें जो विचार की प्रणाली हमें मिली है, उससे हमें ज्ञान की सार्थकता समझ में आती है। लेकिन जिन प्रश्नों की सार्थकता समझ में आती है, वह सार्थकता कहां से आती है? मैं आपको एक उदाहरण देता हूँ। अभी चार-पाँच मिनट पहले की बात है। यहां चर्चा चल रही थी कि आखिर वाक्य का अर्थ संज्ञा-प्रधान होता है या क्रिया-प्रधान होता है, दूसरी चर्चा चल रही थी कि अर्थ का ग्रहण कैसे होता है और यह भाषा बला क्या है? आप सोचिए कि भाषा जैसी क्या दुनिया में कोई दूसरी चीज है? यह कोई प्राकृतिक चीज तो है। वह ऐसी चीज है जिसकी अपने आप में कोई सत्ता नहीं है। उसकी सत्ता इस बात में है कि कोई एक या अनेक किसी दूसरे की ओर उन्मुख होता या होते हैं। मैं इस बारे में ज्यादा कहना नहीं चाहता कि यह विचार हमें किस दिशा में ले जाता है, लेकिन यह सोचने की बात है कि जिस संस्कृति में आप हैं, जिसकी चर्चा करना चाहते हैं, उस संस्कृति में पहला चिंतन भाषा के ऊपर हुआ था। पहला शास्त्र भाषा के ऊपर बना था। शास्त्र पहले शब्द-बोध को ढूंढता है कि वह कैसा पदार्थ है, शब्द का अर्थ से सम्बन्ध क्या है? इसी संदर्भ में आप इसे देखिए। शब्द-बोध

की बात यास्क से शुरू होती है और अब तक चल रही है, जबकि आज बीसवीं शताब्दी खत्म होने जा रही है।

गदाधर ने व्युत्पत्तिवाद लिखा है और वे सत्रहवीं शताब्दी में हुए थे, लेकिन आज भी यदि आप उस व्युत्पत्तिवाद किताब का पन्ना पलटें, यदि किसी को संस्कृत थोड़ी भी आती हो तो आपको उसमें एक अजीब बात मिलेगी। उसमें चिन्तन हो रहा है, एक बात उठाई जा रही है कि राजपुरुष का अर्थ क्या होता है। यह कितनी अजीब बात है? जब मैंने पढ़ा तो मुझे लगा कि इसमें राजपुरुष के अर्थ की चर्चा क्यों की जा रही है? जब बाद में, मैं किसी से बात कर रहा था तो मेरी समझ में आया कि जब संस्कृत भाषा में समास होता है, तब अर्थ में अंतर हो जाता है। एक शब्द दूसरे के अर्थ को कैसे पास आकर बदलता है? शब्दों के अर्थों का जहाँ तक संबंध है, निर्मल जी यहाँ बैठे हुए हैं, वे जानते हैं, उनके पास शब्दों का जादू है। वे ऐसे शब्दों का चयन करते हैं, उन्हें आपस में इस तरह मिलाने हैं कि आप आश्चर्यचकित रह जाते हैं, अचम्भा होता है। यही काव्य का लक्षण है। कवि क्या करता है, यही करता है। जब अर्थ पर विचार करें, अपने यहाँ अलंकार पर विचार हुआ है, और आधुनिक परिप्रेक्ष्य में भी विचार हुआ है। विचार इस प्रकार से हुआ कि जब एक शब्द दूसरे शब्द के पास आता है, तब उससे उनमें एक संबंध स्थापित होता है और उस संबंध से भाषा में एक नया अर्थ उत्पन्न होता है। संधि और समास के नियम हैं। यह किस प्रकार का समास है, समास क्या है? उसे कैसे समझा जाए, उसे कैसे समझेंगे?

इसी तरह जब अंग्रेजी भाषा के दार्शनिक भी कुछ ऐसा कहते हैं कि 'नोलेज' (Knowledge) और 'बिलीफ' (Belief) में यह भेद है कि नोलेज के बारे में जो प्रश्न उठाए जा सकते हैं वे 'बिलीफ' के बारे में नहीं उठाए जा सकते। जो प्रश्न 'प्लेजर' (Pleasure) के बारे में उठाए जा सकते हैं, वे 'पेन' (Pain) के बारे में नहीं उठाए जा सकते। इसी पर हमारे अच्छे लोग जिस बात पर गर्व करते हैं कि वे आधुनिक दर्शन को जानते हैं, वे इस पर मोहित हैं, वे इसकी चर्चा करते हैं, इसे अपने यहां पढ़ते हैं—इनमें से ज़रा एक का शीर्षक देखिए, कैसा अद्भुत है



- Three ways of spelling Ink- 'श्री वेज ऑफ स्पेलिंग इंक' ऑस्टन का बड़ा मशहूर निबन्ध है, जिसे पढ़ाया जाता है। मगर वही बात जब संस्कृति के संदर्भ में उठती है तो हमें हँसी आती है, परन्तु उस समय हँसी क्यों नहीं आती? वह इसलिए नहीं आती क्योंकि हम उस परम्परा में पढ़ाए गए हैं और संस्कृत की जो परम्परा है, अपनी भाषा की जो परम्परा है और उनसे जो दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनके बारे में हम नहीं सोचते। हमारे सोचने की जो प्रक्रिया है, प्रश्न उठाने की जो परम्परा है, कौन से प्रश्न महत्त्व के हैं और सार्थक हैं और उनकी क्या समस्याएँ हैं। यह सब किसी विचार की परम्परा में ही होता है, बौद्धिक समस्याएँ किसी परिप्रेक्ष्य में ही उठती हैं, अगर आप उस परिप्रेक्ष्य या परम्परा में नहीं हैं, तो आपके लिए वह समस्या कोई 'समस्या' ही नहीं होगी। आपके लिए वे प्रश्न कोई 'प्रश्न' नहीं होंगे। यदि ऐसा है तो आज जो हो रहा है उसको हमें एक नई दृष्टि से समझना होगा। हमारे विचार की कोटियाँ, हमारे विचार की समस्याएँ, हमारे विचार के केन्द्रबिन्दु हमारी परम्परा से नहीं, बल्कि पश्चिमी परम्परा से आये हुए हैं और उन्हीं के संदर्भ में आज का हमारा सारा विचार अपना ताना-बाना बुनता रहता है। किसी क्षेत्र में भी देखिए, तो यही मिलेगा। उदाहरण के लिए अगर हम समाजशास्त्र की बात लें, जब 'इन्दिरा गांधी ओपन यूनीवर्सिटी' के समाजशास्त्र का पाठ्यक्रम बनाया गया तो मैंने देखा कि उसके बनाने वालों में, जिनमें हमारा एक बड़ा अच्छा दोस्त भी था, ने कहा कि 'समाजशास्त्र' के पिता वेबर (Weber) हैं। जैसे-हमारे देश में इस विषय पर कोई चिन्तन ही नहीं हुआ हो। किन्तु हमारे देश में ही नहीं, चीन जैसी पुरानी सभ्यता में भी इस पर चिन्तन कम से कम ढाई हजार साल से चल रहा है; फिर भी हमें ऐसा कहते हुए शर्म नहीं आती कि समाजशास्त्र का मूल वेबर में है, मार्क्स में है, कोम्प्ट (Compte) में है। राज्यशास्त्र के संदर्भ में हम लोग प्लेटो और एरिस्टोटल की बातें करते हैं, लेकिन यह भूल जाते हैं कि राज्यसत्ता के बारे में, राजधर्म के बारे में इस देश में बहुत चिन्तन हुआ है। अन्य देशों में भी हुआ होगा, चीन की परम्परा में तो हुआ ही है। लेकिन हमारे स्कूल, हमारे कॉलेज और हमारे विश्वविद्यालय क्या पढ़ाते हैं?

वे पढ़ाते हैं कि शुद्ध बौद्धिक चिन्तन की परम्पराएँ इस देश में नहीं रही हैं। इससे बड़ा भ्रम कोई दूसरा नहीं हो सकता। क्या हम लोग अपने को धोखा दे रहे हैं? वास्तव में, जब तक हम इस बात को नकारेंगे नहीं, हम यह नहीं समझेंगे कि इसमें कहाँ मूलभूत दोष है, जब तक हम अपने यहाँ के चिन्तन की प्रक्रिया के बारे में जानने की कोशिश नहीं करेंगे तब तक आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

जिस बात की ओर मैं इशारा करना चाहता हूँ, वह यह है कि विचार की अपनी परम्पराएँ इस संस्कृति में मौजूद थीं। लेकिन आज उन्हें हम किस प्रकार से पकड़ें? कैसे जानें? विचार के अनेक आयाम होते हैं। अभी मैंने कहा था कि जब ज्ञान किसी भी क्षेत्र में शास्त्र का रूप लेता है, तब संस्कृति में एक मूलभूत परिवर्तन आता है। संस्कृति तब ऐसा रूप लेती है जो उसके पहले नहीं थी। किस क्षेत्र में पहले शास्त्र बना, यह संस्कृतियों के वैविध्य को दर्शित करता है लेकिन इस बात पर हम अधिक विचार नहीं करेंगे। परन्तु जब ज्ञान किसी क्षेत्र में शास्त्र का रूप लेता है तो वह किस प्रकार की समस्याओं को जन्म देता है? सवाल है कि शास्त्र आखिर क्या होता है? शास्त्र विचार की कोटियाँ बनाता है-दो प्रकार की कोटियाँ बनती हैं, प्रथम प्रकार की कोटियाँ वे हैं, जिनके जरिए उस क्षेत्र के बारे में सोचा जाता है। दूसरी कोटियाँ वे हैं जिनके द्वारा प्रथम श्रेणी की कोटियों को एक समन्वित रूप देने की कोशिश की जाती है। ये दूसरी कोटियाँ केवल उस शास्त्र की अपनी कोटियाँ हैं। ये उस विषय की कोटियाँ नहीं हैं जिनसे वह शास्त्र सम्बन्धित है। और ये उस विषय को नहीं पकड़तीं, बल्कि उस विषय पर होने वाले विचार को पकड़ती हैं। यही शास्त्र होता है।

इसलिए जब शास्त्र बनते हैं तब क्या होता है- शास्त्र पर चिन्तन होता है कि शास्त्र आखिर है क्या? विचार के दो स्तर होते हैं- एक शास्त्र और दूसरा शास्त्र पर शास्त्र का। शास्त्र के विषय और शास्त्र पर चिन्तन की विधाएँ भी अनेक हैं। शास्त्र की प्रक्रिया भी अनेक आयामी होती है और उनकी कोटियाँ भी अलग-अलग होती हैं। बौद्धिक

परम्पराओं को पकड़ने की कोशिश, समझने की कोशिश यह है कि वे कोटियाँ हमारे विचार की कोटियाँ बन जाएँ और उनके द्वारा हम स्वयं चिन्ता न करें। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक आप उनको समझ नहीं सकते। विचारों की कम से कम ढाई हजार साल की परम्परा है।

मैंने पहले भी कहा है और उसे आज यहाँ फिर दोहराने में मुझे कोई शर्म नहीं है कि इस देश की बौद्धिक परम्परा अब भी जीवित है और ऐसे लोग आपके देश में हैं जो केवल संस्कृत को जानने वाले हैं, जो अंग्रेजी नहीं जानते और यह अच्छी बात है क्योंकि वे उस परम्परा में ही विचार करते हैं, उनके लिए वे ही प्रश्न सार्थक हैं, वे ही समस्याएँ सार्थक हैं, वे ही जीवन्त हैं जो परम्परा के बौद्धिक जीवन से उन्हें प्राप्त हुई हैं। कुछ हम जैसे लोग हैं, हमारे समान लोग हैं जो उसे समझने की चेष्टा करते हैं परन्तु उस समझने की चेष्टा में एक मूलभूत व्यवधान रहता है, और वह व्यवधान यह है कि हम अपनी भारतीय संस्कृति को समझने की चेष्टा में उस 'इंडोलॉजी' (Indology) की परम्परा से शुरू करते हुए जो पश्चिम में भारत को समझने की चेष्टा में विकसित हुई थी, उसे पश्चिम के विद्वानों ने शुरू किया था और हमारे विद्वान उसकी नकल करते हैं। पर आप सोचिए कि पश्चिम का विद्वान किसी दूसरी संस्कृति को किस प्रकार देखेगा। उसके लिए वह 'विषय' होगी। 'वस्तु' होगी परन्तु वह उसका कभी भी 'प्राण' नहीं होगी। उसका 'प्राण' तो उसकी अपनी संस्कृति है। वह अपनी संस्कृति के संदर्भ में आपकी संस्कृति को देखना चाहता है, समझना चाहता है, पर आश्चर्य की बात यह है कि हम भी अपनी संस्कृति को उसी प्रकार से समझने में लगे हुए हैं, जैसे 'वह' समझता है। वह बड़े गर्व से कहता है देखो, तुम्हें यह तरीका नहीं पता है, तुमने 'फिलोलॉजी' नहीं पढ़ी है, तुम्हें यह नहीं आता है, वह नहीं आता है। पर हम भी वैसा ही कहते हैं, लिखते हैं और जो वह विधि अपनाता है, उसे स्वीकार करते हैं। पर इतना ही नहीं, हम अपने को भी वैसा ही समझने लगे हैं, जैसा कि वह हमें समझता है।

अगर हम परम्परा को देखें, तो विचारों की परम्परा को समझने के दो पक्ष हैं जो यहाँ भी हैं और पश्चिम में भी हैं। पश्चिम में भी वैसा ही है जैसा हम कहते हैं। अब यहाँ अनेक लोग कहने लगे हैं। प्लेटो ने वास्तव में क्या कहा, वहाँ भी लोग यह सवाल उठाते हैं कि हमारे यहाँ ऐसी धारणा बन रही है कि मूल ग्रन्थ देखा जाए। जहाँ आपको पाण्डुलिपि मिलती है, उसका संपादन (एडिट) किया जाए और प्रकाशित किया जाए। ऐसा लोग करते भी हैं और इसमें कोई गलती नहीं है लेकिन यह कोई बहुत महत्व की बात भी नहीं है। पर मेरी राय में यह पाण्डुलिपियों का खोजना, ग्रन्थों का सम्पादन, मूल ग्रन्थ की खोज आदि अपने में महत्व रखते हुए भी विचारों की मूल प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ाते। यह ठीक है कि कुछ लोगों को ऐसा कार्य करने में रुचि और गति दोनों होती है और अगर उन्हें ऐसा करना अच्छा लगता है तो वे उसे जरूर करें। इसमें कोई बुराई नहीं है। पर अगर वे समझते हैं कि इससे पारम्परिक विचार में कोई गतिशीलता आएगी तो वे भूल करते हैं क्योंकि जब तक हमें जो कहा जा रहा है जिसके बारे में कहा जा रहा है, उस पर विचार नहीं करेंगे तो चिन्तन आगे बढ़ ही नहीं पाएगा। उन्होंने वास्तव में सत्य के बारे में क्या कहा था? उसकी प्राप्ति कैसे होती है, इस पर यदि हम चिन्तन नहीं करेंगे तो फिर बात कैसे बनेगी। पर स्वतंत्र विचार की यह यात्रा यह पूछने या जानने से प्रारम्भ नहीं होगी कि इस विषय पर शंकर ने क्या कहा था या कुमारिल ने क्या कहा था।

ठीक है, लोग पाण्डुलिपियों पर काम करें लेकिन हमें यह भी जानने की कोशिश करनी चाहिए कि वे किन समस्याओं से जूझ रहे थे, उनके लिए क्या तार्किक प्रश्न थे, उनके लिए क्या मूलभूत परेशानियाँ थीं, जिन्हें जानने के लिए, हल करने के लिए उन्होंने ग्रन्थ लिखे। ग्रन्थ ऐसे ही नहीं लिखे जाते। वे किसी संदर्भ विशेष में लिखे जाते हैं किन्हीं प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए या किन्हीं समस्याओं को सुलझाने के लिए हमारे यहाँ जो परम्पराएँ हैं, वे इतनी जीवन्त हैं कि हर व्यक्ति अपने पूर्वज विचारकों के बारे में लिखता है, कहीं नाम से, कहीं बगैर नाम के, और

फिर उनका खण्डन करता है, उनका परिष्कार करता है और फिर उन्हें आगे बढ़ाता है। अपने यहाँ भाष्य वार्तिक-टीक परिशुद्धि वृत्ति आदि की परम्पराएँ हैं, जिनके द्वारा विचार सतत विकसित होता है। इनमें से कुछ का तो लक्षण ही इस प्रकार दिया गया है कि उस पर यदि हम ध्यान दें तो आश्चर्यचकित हुए बगैर नहीं रह जायेंगे। वार्तिक के लक्षण को देखिए, उसके बारे में कहा गया है कि "उत्तम, अनुत्तम दुरुत्तम च वार्तिकम्"—इसका अर्थ यह है कि वार्तिककार जिस ग्रन्थ पर वार्तिक लिखता है वह उसमें जो कहा गया है, जो नहीं कहा गया है, और जो गलत कहा गया है। उस सबके बारे में विस्तार से व्याख्या करता है। आचार्य शंकर ने सुरेश्वर से कहा कि तुम मेरे पर वृत्तिका लिखो। यह बात ठीक है, क्योंकि वे अद्वैत परम्परा में वार्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हैं। वार्तिक अगर दुरुत्तम है, तो क्यों शंकर अपने शिष्य सुरेश्वर से यह कहते हैं कि इस भाष्य में जो दोष हैं, वे तुम निकालो। अगर ऐसा है तो इससे बड़ी बात क्या हो सकती है कि गुरु शिष्य से ऐसा कहे कि मैंने जो कुछ कहा है, उसमें से दोष निकालो। शंकराचार्य के दो शिष्य हैं—पद्मपाद और सुरेश्वर, और उन दोनों की अलग-अलग परम्परा है, उनका अलग-अलग सोच है। दोनों अलग तरह से शंकराचार्य को समझने की परम्परा प्रारम्भ करते हैं जबकि दोनों उनके शिष्य हैं। मेरे कहने का आशय सिर्फ इतना ही है कि हमारी जो परम्पराएँ हैं, जो प्रश्न हैं, जो समस्याएँ हैं, जो विचार की कोटियाँ हैं, उसमें जो सुलझाने की विधि है, उसमें जो मानदण्ड हैं, अगर वे हमारे पास नहीं हैं, वे हमारी पकड़ में नहीं हैं तो हम उस परम्परा में कभी प्रवेश नहीं कर सकते। वह हमारे लिए वैसी ही रहेगी जैसी 'इण्डोलौजिस्ट' के लिए रही है।

यहाँ एक और परेशानी है जो उससे भी गहरी है और वह यह है कि कुछ ऐसा होता है कि जब किसी दूसरी वैचारिक संस्कृति से आप आक्रांत होते हैं या उसकी चकाचौंध से आप थोड़ा चुंघिया जाते हैं ऐसे में तो जो हमारे सामने है वह भी हमें दिखाई नहीं पड़ता है, दूसरी ओर उसके सामने अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए हम यह भी कहने लगते हैं कि हमारे पास सब कुछ है।

पिछले १५० सालों से हम यही कहते आए हैं कि हमारे पास सब कुछ है। अगर हमारे पास सब कुछ है, फिर हमारे लिए करने को रह ही क्या जाता है? किन्तु अगर हम १८वीं शताब्दी के बाद से लिखे गये ग्रन्थों की ओर ध्यान दें, तो पता चलेगा कि उनके लिखने वालों का विचार ऐसा नहीं था। वे तो समझते थे कि बहुत कुछ करने को है। पिछले २०० सालों में जितने ग्रन्थ लिखे गए, और अब भी लिखे जा रहे हैं, उनकी संख्या आश्चर्यजनक है। इसका मतलब यह है कि चिन्तन आज भी विचार की परम्परा है। यदि कोई व्यक्ति हमारी संस्कृति में कोई नई चीज लिखता है तो उसके १०-१५ साल बाद उसका उत्तर दिया जाता है। अंग्रेजी में लिखने वालों में अक्सर ऐसा नहीं होता है। अंग्रेजी की परम्परा अभी हमारे यहाँ वास्तव में जीवन्त रूप में नहीं है। हालांकि ऊपर से देखने पर उसका प्रभाव सर्वव्यापी दिखता है, पर जीवन्त होने का लक्षण क्या है? वह लक्षण यह है कि कोई चीज अपूर्ण है, किसी में दोष है, उसे पूरा करना है, उसका परिष्कार करना है, उसे नई दिशा में ले जाना है। लेकिन हम अपनी परम्परा से विलग हो गए हैं, न हमें उसकी कोटियों का पता है, न उसकी सत्ता का पता है, न उसके प्रश्न पता हैं, न उसकी विधि पता है। कुछ पता नहीं है लेकिन इससे ज्यादा हम ऐसा मान बैठे हैं कि जो कुछ सोचना था, वह सोचा जा चुका है। यदि, जो कुछ सोचना था वह सोचा जा चुका है तो वास्तव में यह कि वह परम्परा समाप्त हो गई, उसकी अब कोई प्रासंगिकता नहीं है। प्रासंगिकता उसी चीज की होती है जो मेरे पास आती है और मुझे लगता है कि यह गलत है या यह अपूर्ण है और यह बहुत बढ़िया बात है। अब जो बढ़िया बात है, उसे कैसे आगे बढ़ाया जाए, हर क्षण जो मेरे पास आता है, वह अपूर्ण है और जो अपूर्ण है उसको कैसे पूरा किया जाय। चूंकि जीवन्त है इसलिए मेरे से कहता है कि मुझे और किसी अन्य को यदि कुछ दिया है, मुझे कुछ दो, या मेरा रूप अधिक सार्थक, सुन्दर व शिव करो। पर परम्परा यही होती है। परम्परा होती है कि मैंने किसी से कुछ पाया है। मैंने क्या पाया है, किसी को क्या दिया है, वह गुरु-शिष्य की परम्परा कही जाती है। जो आज गुरु है वह कभी शिष्य था और उसने भी किसी से कुछ लिया था। हमारे यहाँ

ग्रन्थों में सब कुछ लिखा हुआ है। फिर भी क्या हमें उन पर फिर से विचार नहीं करना है कि अपनी जो कोटियाँ हैं, अपने जो प्रश्न हैं, अपने जो विचार हैं, अपनी जो समस्याएँ हैं उनकी कोई नई दिशा भी हो सकती है। हम अपनी परम्परा के सम्बन्ध में पूछें कि इसमें अपूर्णता क्या है, इसकी सार्थकता क्या है, इसको कैसे आगे बढ़ाया जाए। जब तक ऐसे सवाल हमारे ही प्राणों का अंग नहीं बनेंगे, वे हमारे लिए विषय-वस्तु ही रहेंगे। किन्तु हमारे यहाँ परिस्थिति कुछ दूसरी हो गई है। हमारे यहाँ यद्यपि आज बहुत लिखा जा रहा है, अच्छा भी लिखा जा रहा है, बुरा भी लिखा जा रहा है, पर वह एक परम्परा के बारे में है, उसे विषय-वस्तु मान कर, लेकिन उसमें उस परम्परा को आत्मसात् करके, विषयिता के रूप में उसे धारण करके, उससे अनुप्राणित होकर उसे आगे बढ़ाने की बात नहीं है।

ऐसा नहीं था। हमारी परम्परा में पहले भी ऐसा ही होता था लेकिन आज हम परम्परा के उस पक्ष को बिल्कुल भुला बैठे हैं। आज जब हम परम्परा की बात करते हैं तो अक्सर लोग यह कहते हैं कि आप ठीक बात नहीं कह रहे हैं। लेकिन “ठीक बात नहीं कह रहे हैं”, इस कथन में यह नहीं कहा जा रहा है कि फलाने ग्रन्थ के अनुरूप यह बात है या नहीं है—प्रश्न यह है कि आपसे हम जो बात कह रहे हैं लेकिन जब हम ‘ठीक बात’ की बात करते हैं तो हमारा मतलब केवल इतना है कि बात आपको कैसी लगती है। उदाहरण के लिए आप यज्ञ के विचार को लीजिए—यज्ञ का विचार जो जैमिनी में था, वही गीता में है। आप लोग गीता पढ़ते होंगे, उसके बीसियों भाष्य हैं। पर देखते नहीं हैं कि गीता लिखने वाला क्या कर रहा है? उसके सत्रहवें और अट्ठाह्रवें अध्याय में राजसिक, तामसिक और सात्विक का किस प्रकार प्रयोग किया हुआ है? लेकिन हम लोग उसके प्रयोग का अपने विचार में कोई उपयोग नहीं करते। हम यह भी नहीं सोचते कि यज्ञ, तप, ज्ञान, बुद्धि ज्ञान आदि सब राजसिक, तामसिक व सात्विक हो सकते हैं, जैसा कि गीता में कहा गया है तो गीता के अनुसार सात्विक, तामसिक राज्य क्या होंगे? राजसिक समाज क्या है? हम ऐसा भी नहीं पूछते कि सात्विक राज्य क्या है, कौन-सी राज्य-प्रणाली सात्विक होगी, कौनसी तामसिक

होगी और कौन सी राजसिक होगी? हम इन कोटियों में नहीं सोचते क्योंकि हमने सोचना बन्द कर दिया है। हम अपने से यह सवाल नहीं पूछते कि क्या ये तीन कोटियाँ समझने के लिए पर्याप्त हैं? हम सवाल करना, सोचना भूल गए हैं और केवल दोहराना ही हम जानते हैं। वही पंडित है, वही ज्ञानी है जो दोहरा सकता है। पुरुषार्थ चार हैं। वर्ण कितने हैं? वे भी चार हैं। लेकिन वे चार क्यों हैं? आप कह सकते हैं कि ग्रन्थों में चार लिखे हैं, यह ठीक बात है, इसमें कोई दोष नहीं है लेकिन क्या चार ही हैं। क्या समाज को समझने के लिए चार कोटियाँ ही पर्याप्त हैं? यदि नहीं तो आप लोग क्या कर रहे हैं? जब किसी भक्त को नये पुरुषार्थ के बारे में बताया गया तब किसी ने यह नहीं कहा कि आप भक्त को नया पुरुषार्थ नहीं बता सकते, पुरुषार्थ तो चार ही होते हैं। जब मोक्ष को चौथा पुरुषार्थ बताया गया तो किसी ने खड़े होकर नहीं कहा कि पुरुषार्थ तो केवल तीन होते हैं, आप यह चौथा पुरुषार्थ कहाँ से बता रहे हैं? पहले के लोग चिन्तन करते थे, सोचते थे। उन्हें नई बात कहने में कोई डर नहीं था। आप देखिए कि आपके यहाँ क्या-क्या नहीं कहा गया। यदि आप उन ग्रन्थों को उठाकर देखें जो राजनीति से संबंधित हैं, जिनका व्यवहार-शास्त्र या लॉ से सम्बन्ध है, जो समाज से संबंधित हैं तो आपको आश्चर्य होगा कि उनमें क्या नहीं कहा गया है। उनमें साफ लिखा हुआ है कि अगर कोई मोक्षकामी हो तो उसे अमात्य नहीं बनाना चाहिए, ऐसे मंत्री नहीं चुनने चाहिए जो मोक्ष की इच्छा रखते हों। जो केवल ऐसा कहते थे, वे लोग डरते नहीं थे जबकि हम लोग डरते हैं। हम लोग क्यों डरते हैं? सोचने की बात है कि हम लोग डरते क्यों हैं? अपने नए चिन्तन के बारे में कहना तो हमारे यहाँ बहुत पुरानी परम्परा है कि जिस पर हमें गर्व होना चाहिए। यह ऐसी परम्परा नहीं है कि आप कोई ऐसी नई बात कहें तो उसे सजा दी जाय या मार दिया जाय जैसा कि कुछ अन्य परम्पराओं में मिलता है। दुनिया में ऐसी परम्पराएँ हैं। कोई नई बात कहना चाहें तो वहाँ उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं है। लेकिन अगर हम अपनी परम्परा में ऐसा नहीं कह पाते तो उस परम्परा के प्रति हमारी दृष्टि में कुछ नया दोष उत्पन्न हो गया है। वह दोष यह है कि हम ऐसा मानते हैं

कि उसमें कोई भी परिवर्तन करना उसके साथ अन्याय करना होगा। यही नहीं उसमें कुछ भी परिवर्तन करना अन्याय ही नहीं बल्कि उसमें कुछ दोष होगा और वह गलत ही होगा क्योंकि जो कुछ है, वही ठीक है। जैसे उदाहरण के लिए—पुरुषार्थ चार भी हो सकते हैं। यदि कोई कहे कि पाँचवाँ पुरुषार्थ भी है तो साधारणतः लोग उसे गलत ही मानेंगे। हाँ ऐसा जरूर है कि परम्परा में 'भक्ति' को पाँचवाँ पुरुषार्थ माना गया है। कुछ लोगों ने तो केवल उसे ही पुरुषार्थ माना है। कम से कम परम पुरुषार्थ तो स्वीकार किया है लेकिन पाँचवें पुरुषार्थ की बात छोड़ दें और अगर मैं यह कहूँ कि एक छठा पुरुषार्थ भी है तो आप यह जरूर कहेंगे कि मैं कहीं न कहीं कुछ गलती कर रहा हूँ या कोई नया अन्वेषण दे रहा हूँ।

परम्परा में निस्संग बुद्धि की बात होती है। अब सवाल है कि निस्संग बुद्धि क्या है, निस्संग बुद्धि वह है जो एक तरह से निर्लिप्त है। हमारे यहाँ निस्संग या निष्काम कर्म की चर्चा तो बहुत हुई है, पर निस्संग यानि निष्काम बुद्धि के बारे में कम ही कहा गया है लेकिन निस्संग बुद्धि भी कुछ उसी प्रकार की होती है जैसा निष्काम कर्म होता है। वह विषय को देखती है, वस्तु को देखती है। उसमें कोई पूर्वाग्रह नहीं है। जिधर विचार जाते हैं, वह उधर जाती है, ऐसी बुद्धि का स्वरूप क्या है, इसके बारे में, मैं थोड़ा कहकर समाप्त करूँगा, फिर कल चर्चा करूँगा।

अगर यह ठीक है कि बुद्धि शास्त्र की रचना करती है और जब शास्त्र रचित होता है तो संस्कृति में मूलभूत परिवर्तन आता है। अब शास्त्र के भी दो भेद हैं। शास्त्र एक विषयवस्तु का होता है, किसी क्षेत्र का होता है और फिर शास्त्र पर स्वयं चिन्तन होता है, नई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, नई कोटियाँ उत्पन्न उत्पन्न होती हैं, नये प्रश्न उपस्थित होते हैं और फिर उससे परम्परा बनती है। वह परम्परा क्षेत्र की अपनी परम्परा है। हर क्षेत्र के विचारों की अपनी परम्परा है और एक विचार पर भी विचार होते रहने के बाद स्वयं नई परम्पराएँ उत्पन्न होती हैं। इन परम्पराओं के ऊपर हमारे यहाँ अढ़ाई-तीन हजार सालों से अन्वेषण चलता रहा है। यदि इसमें आप स्थापित नहीं हैं तो इस देश के बौद्धिक

चिन्तन में आप निमज्जित नहीं हैं। आप चाहे कितने ही गाने सुन लीजिए, चाहे कितने ही नृत्य देख लीजिए और चाहे कितने ही कहानियाँ या उपन्यास पढ़ लीजिए, चाहे अपनी भाषा में पढ़िए या किसी दूसरी भाषा में पढ़िए, किन्तु आप अपनी उस परम्परा को तब तक प्राप्त नहीं कर सकते जो परम्परा संस्कृति, सभ्यता कही जाती है। वह तब तक प्राप्त नहीं होगी जब तक कि आप उसके जीवन्त भागीदार नहीं बनेंगे। भागीदार बनने का अर्थ क्या होता है? आपके यहाँ वर्णन आता है कि हमारे ऊपर एक ऋण है। जिससे हमें उऋण होना है। इस ऋण से आप कैसे उऋण होंगे। आपके यहाँ कहा गया है कि यदि आप पुत्र उत्पन्न करते हैं तो पिता के ऋण से उऋण होते हैं लेकिन इसमें एक दोष भी है—वह क्या है? यदि पुत्री उत्पन्न करेंगे तो उऋण क्यों नहीं होंगे? अगर उसे हम छोड़ भी दें तो गुरु-शिष्य की परम्परा की बात को देखें। गुरु से आपने कुछ पाया है तो आपका धर्म बनता है कि किसी दूसरे को आप विद्या का दान करें। ऐसे ही देवताओं के प्रति है। लेकिन इससे भी व्यापक दृष्टि यह है कि हमने किसी से कुछ पाया है तो हमारे ऊपर ऋण यह है कि उस ऋण को कैसे ब्याज सहित चुकाया जाए। आजकल १४-१५% ब्याज मिलता है लेकिन हमको अपने से पूछना चाहिए कि जो हमने ऋण परम्परा के द्वारा प्राप्त किया है उस पर हमने क्या ५% ब्याज भी दिया है? जितना आपने किसी से पाया है, उस पर ५% ब्याज भी नहीं दिया है इसलिए हम बेकार आदमी हैं। लेकिन वास्तव में अगर मैं किसी से यह पूछूँ कि क्या उसने ५% या इससे भी कम परम्परा से लिए हुए ऋण के ऊपर ब्याज दिया है तो उसके लिए यह बताना पाना बड़ा मुश्किल होगा कि उसने ऐसा कुछ भी किया है जो इस ऋण पर ब्याज को चुकाने के रूप में देखा जाए। इसीलिए अढ़ाई सौ सालों से अठारहवीं शताब्दी के बाद से हमारे चिन्तन ने, खास तौर से जो पश्चिमी परम्परा में पढ़े हुए विद्वान हैं, उन्होंने हमारी संस्कृति में, परम्परा में क्या योगदान दिया है, उन्होंने उसका ऋण कैसे चुकाया है? 'ट्रांसलेशन' करके, अंग्रेजी में अनुवाद करके, संग्रहालयों में संग्रहीत करके, पाण्डुलिपियों की खोज में और कोप बनाने में? 'इंदिरा गांधी सेंटर फॉर आर्ट्स एण्ड कल्चर' क्या कर रहा है, मूल ग्रन्थ प्रकाशित कर रहा है—बड़ा

अच्छा काम है। हजारों लोग देश में आज यही कर रहे हैं। उनसे पूछिए कि यदि उस ऋण से उऋण होने का क्या यही तरीका है—फिर वे किसके लिए कर रहे हैं? सब काम अंग्रेजी में हो रहे हैं—किसके लिए हो रहे हैं। यदि हमें उस ऋण से उऋण होना है तो उसके दो ही तरीके हैं—परम्परा को उसके वैविध्य में जानना, वह एक तरह की नहीं है बल्कि क्षेत्र-क्षेत्र में विभिन्न हैं। उसमें नए योगदान हो रहे हैं और उसकी भी मूलभूत कोटियाँ हैं। अगर पश्चिम की बात करें तो—Categories of thought हैं—लेकिन हमारे यहाँ विचार की वे 'कैटेगरीज' क्या हैं? जो किसी विचार को विचार का रूप देती हैं। उनका जब तक हमें पता नहीं लगेगा और जब तक वे सहज रूप में हमारे अपने सोचने की कोटियाँ नहीं बन जाएँगी तब तक हम केवल उनके बारे में बात करते रहेंगे। उनको अपनी बुद्धि का अनिवार्य अंग बनाकर उनके द्वारा विभिन्न विषयों पर और अपने अनुभव पर चिन्तन नहीं कर पायेंगे। वे कोटियाँ जब हमारे चिन्तन की कोटियाँ बन जाएँगी तभी हम नये प्रश्नों को जन्म दे सकेंगे। विचार की नई दिशाएँ तब तक नहीं कहेंगे कि यह कहना समाज में चार से अधिक वर्ण हैं, गलत है या पुरुषार्थ चार या पाँच से अधिक हो सकते हैं, ऐसा हो ही नहीं सकता। ये संभावनाएँ हमारे विचार के सामने खुलेंगी और हम इन पर नये तरीके से सोचेंगे। इन्हीं बातों पर नहीं बल्कि हर विषय पर, हर क्षेत्र में एक नये चिन्तन की संभावना उत्पन्न होगी जो पारम्परिक विचार से संबंधित तो होगा, पर उससे बंधा हुआ नहीं।

इसी प्रकार का चिन्तन जागृत होगा, जीवन्त और प्राणवान् होगा। हमारा यह उत्तरदायित्व है कि हम इसे सब दिशाओं में आगे बढ़ाएँ। परम्परा की दो दिशाएँ होती हैं—एक भूत और एक भविष्यत्। हमें भूत की ओर देखना चाहिए कि क्या हुआ, भविष्य की ओर देखना चाहिए, किधर जाना चाहिए, अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो हम अपने उत्तरदायित्व को नहीं निभा रहे होंगे। मुझे अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि इस दिल्ली शहर में सब विषयों के बारे में कौंसिलें बनी हुई हैं लेकिन वे अपने उत्तरदायित्व से त्रिल्कुल बेखबर प्रतीत होती हैं। आखिर राज्य तो पैसा ही दे सकता है, राज्य यह तो नहीं कह सकता कि किस दिशा में जाओ। दिशा हम बताते हैं। वे तो दिशाहीन लोग हैं। अब मैं

दो बातें कहकर समाप्त करूँगा कि पहली यह कि चिन्तन के क्षेत्र में बुद्धि का स्थान क्या है और बुद्धि का जगत् प्रत्ययों का जगत् होता है, जिसमें सारा जगत् प्रतिबिम्बित होता है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब प्रत्ययों में होने के कारण उन प्रतिबिम्बों से भिन्न होते हैं जो हमें विभिन्न कलाओं में मिलते हैं। दूसरी ओर क्योंकि मनुष्य की बुद्धि एक आत्मचेतन प्राणी की बुद्धि है इसलिए वह स्वयं चिन्तन-प्रक्रिया को चिन्तन का विषय बनाती है और कुछ दूसरे स्तर के अन्य प्रत्ययों द्वारा इस सारी प्रथम स्तर की प्रत्यय-प्रक्रिया को पकड़ने की चेष्टा करती है।

आत्मचिन्तन की यही बौद्धिक प्रक्रिया है जिसमें चिन्तन स्वयं अपने को विषय रूप में देखता है, अनेकानेक रूप में देखता है, तब वह अपने को कैसे देखता है? कैसे आगे देखेगा? यह वास्तव में हमारी परम्परा का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है और ऐसा हम लोगों को करना चाहिए।

कल मैं इस बात को दूसरी तरह से आगे बढ़ाऊँगा कि वास्तव में जो मूलभूत प्रत्यय हैं, मूलभूत देखने के तरीके हैं, मूलभूत प्रश्न और समस्याएँ हैं, भारतीय परम्परा की, बौद्धिक परम्परा की, उन्हें आपके सामने खोलने की चेष्टा करूँगा। आप सोचिए कि बुद्धि का पुरुषार्थ क्या है? बुद्धि का पुरुषार्थ काम नहीं है, अर्थ भी नहीं है, धर्म भी नहीं है, मोक्ष भी नहीं है। कल इसकी चर्चा होगी कि बुद्धि का पुरुषार्थ क्या है?

**प्रश्न :** जैसा आपने कहा कि विचार की अपनी-अपनी परम्पराएं होती हैं जो बुद्धि के ऊपर मूलभूत प्रभाव डालती हैं। मैं जानना चाहता हूँ कि एक ही विचार को कुछ लोग अच्छे रूप में धारण करते हैं, कुछ लोग बुरे रूप में धारण करते हैं, एक ही बात को कुछ लोग अच्छाई में लेते हैं और कुछ बुराई में लेते हैं, इसका मूलभूत कारण क्या है? यानि मनुष्य की एक बुद्धि दो रूप कैसे लेती है?

**उत्तर :** विचार का मूल बुद्धि है और बुद्धि के बारे में अगर हम परम्परागत में विचार करें तो उसका सात्विक, तामसिक और राजसिक रूप में विभाजन किया जा सकता है। यही नहीं, बुद्धि के और अनेक

भेद किये जा सकते हैं। बुद्धि के सात्विक, राजसिक, तामसिक भेद अपने आपमें अपूर्ण हैं, परन्तु प्रश्न यह था कि बुद्धि का जो प्रयोग है, वह अच्छे-बुरे रूप में कैसे होता है? अगर परम्परा से ही हम इसका उत्तर ढूँढने की चेष्टा करें तो हम पाएंगे कि मनुष्य का कर्म वासना से परिचालित होता है। बुद्धि का कर्म से सम्बन्ध क्या है? देखिए, अपने यहाँ ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध की बहुत चर्चा हुई है-क्यों हुई है, उसका दूसरा आयाम है लेकिन मैं इस समय केवल यह कहना चाहूँगा कि जहाँ तक अच्छे-बुरे के भेद का सवाल है, हालांकि वह संस्कृति में होता है लेकिन जैसे ही धर्मशास्त्रों की रचना होती है वहाँ अच्छे-बुरे का भेद भिन्न प्रकार से होने लगता है। जैसा कि मैंने कहा था कि जैसे ही शास्त्र की रचना होती है, वैसे ही देशी और मार्गी का भेद बनता है, इसी प्रकार अच्छे-बुरे का भेद भी एक नया रूप लेता है। कला के क्षेत्र में यह एक रूप लेता है और कर्म और विचार के क्षेत्र में दूसरा। समस्या के दो अलग-अलग पहलू हैं-एक का कर्म से सम्बन्ध है और दूसरे का बुद्धि से। दोनों क्षेत्रों की अपनी स्वतंत्रता है, स्वायत्तता है-पर प्रश्न यह है कि वे कैसे परिचालित होते हैं? और उनका एक दूसरे से क्या सम्बन्ध है। एक ओर वे यथार्थ से परिचालित होते हैं, दूसरी ओर मूल्य या आदर्शों या मानदण्डों से हमारी चेतना अधिकतर स्व-केन्द्रित है और वासना से परिचालित होती है। वासना के भी अनेक रूप हैं और अधिकतर यह वासना स्वार्थ-केन्द्रित होती है और इसीलिए बुद्धि का उपयोग मनुष्य स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही करता है। इस सन्दर्भ में 'अनादि वासना' की बात भी की गई है पर वह इस प्रसंग में अवांतर ही है। यहाँ तो केवल यह समझने की बात है कि चेतना परकेन्द्रित भी हो सकती है और परार्थ केन्द्रित भी। और जब वह ऐसी होती है तब वह बुद्धि का उपयोग भी अन्य के हित के लिए करती है। इसी से 'कर्तव्यता' की भावना का जन्म होता है। इस तरह ध्यान से देखें तो आपके प्रश्न के अनेक आयाम हैं, लेकिन जहाँ तक बुद्धि और कर्म के सम्बन्ध का प्रश्न है, यही आपका मूलभूत प्रश्न है। मैं समझता हूँ कि बुद्धि अगर निस्संग नहीं है तो वह जिस कर्म को जन्म देगी वह स्वार्थ केन्द्रित कर्म होगा। वास्तव में हम लोगों की बुद्धि निस्संग नहीं होती, क्यों नहीं होती? निस्संग बुद्धि का

जो विचार है, प्रत्यय है, उस पर स्वयं विचार नहीं किया गया कि मेरी बुद्धि किस प्रकार से निस्संग हो, जो विषयवस्तु है, मेरी बुद्धि किस प्रकार से उसके अनुरूप बने। अभी मैंने अपने भाषण में कहा था कि सत्य सार्वभौम है। सत्य की खोज ऐसी चीज की खोज है जिसे हम सार्वभौम, सार्वदेशिक और सार्वकालिक मानते हैं। वह मिलती है या नहीं मिलती, यह प्रश्न अलग है। इस संदर्भ में एक समस्या उठती है जिस पर मैंने चर्चा नहीं की है लेकिन इस बात पर सोचना चाहिए कि संसार में विभिन्न संस्कृतियाँ हैं, उनमें कुछ बड़ी संस्कृतियाँ हैं, जैसे चीन की संस्कृति है। चीन की संस्कृति हमसे भी कुछ अधिक पुरानी है। उसका एक स्वतन्त्र इतिहास है। पश्चिम की संस्कृति अपना मूल ग्रीस को मानती है और उनका भी एक इतिहास है। हालांकि यह जरूरी नहीं है कि ग्रीस केवल पश्चिमी संस्कृति का ही एक अंग माना जाए पर पश्चिम के इतिहासकारों ने उसको इसी रूप में लिया है। हालांकि उन्हें पता है कि ग्रीस सभ्यता ने अरब संस्कृति को बहुत प्रभावित किया था। पश्चिमी एशिया या इस्लामिक देशों की भी अपनी अलग संस्कृति है। अफ्रीकी देशों के बारे में यह समस्या जरूर है कि उनकी अलग संस्कृति मानी जाए या नहीं क्योंकि जहाँ तक हमें पता है उनके यहाँ शास्त्रों की रचना नहीं हुई है।

अब प्रश्न है कि प्रत्यय की जो सार्वभौमिकता है, जिसकी हम खोज कर रहे हैं, उन विचारों की कोटियों के द्वारा, उन प्रत्ययों के द्वारा हम वह पकड़ने की चेष्टा कर रहे हैं जो इन परम्पराओं में ढाई-तीन हजार साल में विकसित हुआ है, उस सार्वभौमिकता की जो विशिष्ट कोटियाँ हैं, उन्हें आप पकड़ सकते हैं, यह स्वयं में बुद्धि का एक कार्य है। वास्तव में जो लोग आज के चिन्तन को जानते हैं उन्हें पता है कि कौन सी समस्याएँ पश्चिम के सामने स्वयं जीवन्त हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि मनुष्य का विचार समाज की विशेष परिस्थितियों से अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है। अंग्रेजी में इसे 'सोशियोलौजी ऑफ नोलेज' कहते हैं, उनके लिए ज्ञान का अपना कोई स्वत्व नहीं है। वह तो केवल साधन मात्र है-व्यक्ति के समष्टि के स्वार्थ को सिद्ध करने का। यही नहीं आज का नवीनतम विचार उसे Post Modernism कहते हैं। वह तो सत्य के प्रत्यय को ही नहीं मानता। जैसा हमारे यहाँ बौद्धिक परम्परा में कहा

जाता है-निःस्वत्व-जिसका कोई 'असैस' नहीं है, जिसका कोई स्वरूप नहीं है। आज का जो अत्याधुनिक विचार है, वह अपने को स्वरूप-शून्य मानता है। फिर स्वरूप-शून्य विचार के बारे में चर्चा कैसे की जाए। आज विचार को अनिवार्य रूप में समाजगत और संस्कृतिगत माना जाता है। यही नहीं, अगर आप मार्क्स के विचार को लें तो उसके अनुसार जब तक विचार स्वयं ऐसा वर्गहीन समाज नहीं बनेगा, तब तक निस्संग बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। मेरे कहने का आशय यह है कि यह समस्या एक व्यापक समस्या है और इसके कई रूप हैं। इतना जरूर है कि यदि आप बुद्धि के क्षेत्र में हैं, ज्ञान के क्षेत्र में हैं तो आप इतना जरूर कहते हैं कि हम सत्य का दावा करते हैं। कोई बताए कि यह असत्य क्यों है। जैसे हमारे यहाँ पहले पूर्व पक्ष को प्रस्तुत करते हैं और फिर सिद्धांत को स्थापित करते हैं, उसके बाद यदि कोई उस सिद्धांत का खण्डन करता है तो हम उसका उत्तर देते हैं, वना यह स्वीकार करते हैं कि हम अपने सिद्धांत में परिवर्तन करेंगे।

इस समस्या का एक तीसरा पक्ष भी है, जहाँ तक मेरी समझ में आया है वह यह है कि ठीक या गलत क्या है, उचित या अनुचित क्या है। इस संदर्भ में दो भेद करने आवश्यक हैं। लेकिन दो विभेद तो करने ही चाहिए। एक यह कि किसी पुस्तक में क्या कहा गया है और दूसरा यह कि जो कहा गया है वह मेरी बुद्धि के अनुसार ठीक है या गलत और अगर मैं उसे गलत मानता हूँ तो मेरे ऊपर यह उत्तरदायित्व है कि मैं वो बौद्धिक युक्ति प्रस्तुत करूँ जिसके आधार पर मैं उसे गलत मानता हूँ। ऐसा कहने के दो आयाम हो सकते हैं। एक तो यह कि जो कहा गया है वह अपूर्ण है और दूसरा यह कि वह अपूर्ण ही नहीं गलत भी है। पहले आयाम में यह कहा जाता है कि जो बात कही गई थी वह पूरी नहीं थी और उसके अन्य पक्ष भी प्रस्तुत किए जाने चाहिए या उसे आगे बढ़ाना चाहिए। जहाँ तक दूसरे आयाम का प्रश्न है उसमें हम उस चिन्तन में ही दोष निकालते हैं या गलती को बताने की कोशिश करते हैं पर चिन्तन की सार्थकता केवल दोष की तलाश कर लेने भर में नहीं है। ज्ञान की या चिन्तन की सार्थकता को दो तरीके से मैं कहता हूँ इनमें एक सत्य की बात होती है। लेकिन एक बात और होती

है-सार्थकता की। वह चिन्तन सार्थक है जो नई दिशा को खोलता है चिन्तन भी दो तरह का होता है। एक चिन्तन बहुत अच्छा है लेकिन वह दरवाजे बन्द करता है, वह आपको आगे सोचने के लिए प्रेरित नहीं करता। उसके पास सब सवालों के जवाब हैं। एक दूसरे प्रकार का चिन्तन होता है जो दिशाएँ खोलता है, जो आपको स्वतन्त्रता देता है कि आप इधर जाओ या उधर जाओ। हम विचार करें कि कितना मामला खोज के लिए पड़ा हुआ है। चिन्तन की सार्थकता मैं इस बात में मानता हूँ कि वह नए प्रश्नों को जन्म दे, ऐसे प्रश्नों को जो पहले से नहीं उठे हैं, नई समस्याएँ उठाएँ, जो पहले नहीं देखी गई, यानि उसमें दूसरों को देने के लिए कुछ होना चाहिए ताकि आगे हम नई पीढ़ियों को कह सकें कि तुम आगे बढ़ो। इस प्रकार से सोचा जा सकता है।

दूसरी बात शायद आपने वेदों के बारे में कही थी। पहले हमें देखना है कि वेद क्या हैं, क्योंकि बहुत तरह से लोग वेद शब्द का प्रयोग करते हैं, लेकिन पहले हमें देखना है कि वेद क्या हैं? क्या वे संहिता हैं, ब्राह्मण हैं, आरण्यक हैं, उपनिषद हैं। उपनिषद तेरहवीं शताब्दी तक लिखे गए हैं लेकिन उनमें क्या है? यदि ऐसा कहते हैं कि उनमें सब-कुछ है तो सब-कुछ का मतलब क्या है? आखिर कोई शब्द विचार नहीं होता। ऐसा लगता है कि विचार से हम सब लोग विलग हो गए हैं तभी सब-कुछ शब्द का प्रयोग करते हैं और उसका अर्थ भी नहीं पूछते कि सब-कुछ का क्या अर्थ है? सब-कुछ होने का मतलब ऐसा भी है, जैसा निर्मल जी कहते हैं कि यह एक लक्षण है, एक व्यंजन है, लेकिन यहाँ सब-कुछ का मतलब सब-कुछ नहीं है। इसे हमें अविधा के रूप में नहीं लेना चाहिए, बल्कि आदर के रूप में, क्योंकि आप महान् हैं, सब-कुछ जानते हैं, कोई सब-कुछ नहीं जानता, सीधी बात है। हम कहते हैं कि उस तरह की बात है। जरा सोचिए तो सही, मैं इतना आश्चर्यचकित रहता हूँ क्योंकि सबको पता है कि नारद जी ने शब्द पुराण में क्या कहा था, उपनिषदों में क्या कहा गया है-मैंने चारों वेद पढ़ लिए हैं, सारी विधाएं पढ़ ली हैं लेकिन फिर भी शांति नहीं मिली-क्यों नहीं मिली-उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि शांति मिलेगी कैसे, क्योंकि अपरा-परा का विभेद नहीं किया। वेद अपरा वस्तु है। अगर उपनिषद



को वेद का भाग मानते हैं तो उपनिषद स्वयं कहते हैं कि वेद अपरा है और वे स्वयं परा हैं। इसलिए परा और अपरा को भी देखना चाहिए। इसके वीसियों उदाहरण दिए जा सकते हैं। यह वास्तव में उन लोगों की बातें हैं जो ग्रन्थों से अपरिचित हैं, जो ग्रन्थों के अंशों की बात ही नहीं करना चाहते जिससे कि परम्परा के प्रति कुछ संशय उत्पन्न हो।

कल में आपको बताऊंगा कि नए शास्त्र का प्रारम्भ कैसे होता है—“प्रमाणश्रय प्रमेय संशयः”—और गीता में कहा गया है— “संशयात्मा विनश्यति”—बुद्धि का रूप यह है कि वह संशय करती है, वह प्रश्न उठाती है। अगर संशय नहीं है तो प्रमाण-प्रमेय व्याप्त नहीं हो सकता और यदि कोई कहता है कि “संशयात्मा विनश्यति” तो ठीक है, हमें कोई डर नहीं लगता कि यह ‘विनश्यति’ क्या है। इसलिए कहने के लिए सुनने के लिए और बात करने के लिए बहुत-कुछ है। कभी फिर मौका मिलेगा तो कहूंगा।

**प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय :** दयाजी के विचारोत्तेजक भाषण में मौलिक चिन्तन की प्रबल अनुशांसा है, मौलिक चिन्तन में उसे दो अर्थों में कह रहा हूँ और दोनों अर्थ दयाजी के भाषण से मिलते हैं—एक विचार है कि चिन्तन अपूर्व हो, नया हो और दूसरा विचार यह है कि वह अपनी परम्परा से जुड़ा हो, भूत से जुड़ा हो। उनका अपना चिन्तन है, जो अपनी परम्परा के शोध के आधार पर है और साथ-साथ नया भी है। वे चाहते हैं कि ऐसा चिन्तन भारत में होना चाहिए लेकिन हो नहीं रहा है। मैं समझता हूँ कि इस बात पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। हमारी शिक्षा-दीक्षा जैसी रही है, पिछले १५० वर्षों से, उसमें पश्चिमी भाषा और पश्चिमी विचारों के द्वारा, हम लोग अपने-आपको और अपनी परम्पराओं को समझने की कोशिश में प्रायः लगे रहे हैं यानि अपने को ही हम पराई दृष्टि से देखते हैं। दयाजी ने इसमें एक दोष की बात की है और उसका परिणाम वे इस रूप में देखते हैं कि जैसे भारतीय परम्पराएँ वास्तव में निर्जीव वस्तु हों—उनका अध्ययन ऐसे नहीं होता कि उनके अंतर-प्रविष्ट होकर हम जीवन्त रूप से सोचते हों, बल्कि

ऐसे होता है जैसे किसी अनजान और विदेशी बात को समझने के लिए उपक्रम किया जाता है, उसके कोष बनाए जाते हैं, उसकी अनुक्रमणिका बनाई जाती है, उसके अनुवाद किये जाते हैं लेकिन उसके वार्तिक नहीं लिखे जाते। मैं समझता हूँ कि यह बात बहुत सही है लेकिन इस परिवेश और इस शिक्षा-दीक्षा में पले और पड़े जो लोग हैं, उन्हें विशेष सहानुभूति नहीं होती। इसका एक बड़ा कारण यह है कि भारतीय जनता, चाहे वह सामान्य भारतीय जनता हो या प्रबुद्ध जनता हो, वह अपने आप को सचमुच ऐसे देखती है जैसे कोई विदेशी देखता है या वे लोग देखते हैं जिनके पास सत्ता है, धन है, जिन्हें सत्ता से सहायता मिलती है और वे अपनी सुरक्षा का आयास करते हैं। इस व्यावहारिक सापेक्षता के कारण ही, मैं समझता हूँ कि इस समय इस दृष्टि का बोलबाला है। दयाजी ने दोनों बातें कही हैं— संस्कृति का एक सार्वभौम पक्ष भी है और उसके साथ-साथ उसका क्षेत्रीय पक्ष भी है। जहाँ तक संस्कृति मानवीय जिज्ञासाओं की अभिव्यक्ति है, जहाँ तक मनुष्य सत्य को खोजना चाहता है, वह सार्वभौमिकता को खोजता है लेकिन इस खोज में जब वह शास्त्र रचता है तो उसमें परिभाषा उत्पन्न होती है और पारिभाषिक पदार्थ पैदा हो जाते हैं। फिर चिन्तन इन पारिभाषिक पदार्थों से आक्रांत हो जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि उसी एक सत्य को खोजने के लिए जो सारणियाँ उत्पन्न होती हैं, जो शास्त्रोनुमोदित हैं, वे अलग हो जाती हैं। नाना संस्कृतियों में जो शास्त्र बनते हैं, उनकी भाषा एक-सी नहीं होती। यहाँ तक कि जैसे तर्कशास्त्र है, उसमें भी क्षेत्रीयता दिखती है भले ही आप, जैसे भाषाओं का एक अंश तक अनुवाद किया जा सकता है, वैसे ही सब शास्त्रों का भी एक अंश तक अनुवाद कर सकते हैं लेकिन उनकी जो दृष्टि, प्रवृत्ति और चेतना है, वह एक जैसी नहीं रहती। अनुभव के और चेतना के निकट जो क्षेत्र हैं, जो विचार के लक्ष्य बनते हैं, उनमें यह बात और भी अधिक होती है कि उनसे सम्बद्ध शास्त्र की भाषा और शास्त्र की प्रवृत्ति एक संस्कृति को दूसरी से अलग कर सकते हैं। अगर संस्कृति आत्मचिन्तन का एक प्रकार है, जैसा दयाजी ने कहा, तो यह निस्सन्देह है कि जहाँ प्रत्येक संस्कृति में शास्त्रों का विकास होता है, वह और संस्कृतियों के भाषागत पार्थक्य से अलग हो जाता

है। यह भाषा सिर्फ बोलचाल की ही भाषा नहीं है, बल्कि शास्त्र की यह प्रत्ययात्मक भाषा है जिसके लिए शास्त्रीय परिभाषाएँ प्रयुक्त होती हैं। इसी प्रकार उनके आत्मचिन्तन से शास्त्र भी जन्म लेता है। शास्त्र संस्कृति को जन्म देता है और साथ-साथ जो शास्त्र पारिभाषिक समस्याएँ और पदार्थ उत्पन्न करते हैं, संस्कृति को असामान्य बनाते हैं। उन्होंने इसका उल्लेख किया कि यद्यपि सत्य विचार एक दृष्टि से सार्वभौम है और कोई सा विचार भी एक दृष्टि से सार्वभौम है लेकिन आजकल इस बात पर संशय व्यक्त किया गया है और आजकल ही नहीं, बहुत पुराने जमाने से इस बात पर संशय व्यक्त किया गया है कि क्या वास्तव में जिसे भाषा में व्यक्त विकल्पात्मक ज्ञान कहा जाता है, क्या वह सार्वभौम है? उन्होंने बौद्ध लोगों का उल्लेख किया। दूसरे लोग भी ऐसा कहते हैं कि भाषा में अभिव्यक्त जितना ज्ञान है उन सबका तत्व संब्यावहारिक होता है, उसमें कोई परमार्थिकता नहीं है। उसमें लक्ष्य भी व्यावहारिक होता है, वह भी परमार्थिक नहीं है लेकिन यह स्वयं एक विचार की पद्धति है। यह बात सही है कि संस्कृतियाँ शास्त्रों से विभक्त होती हैं यद्यपि शास्त्रों के सहारे ही वे अपने-आपको खोजना चाहती हैं-इसमें यथार्थ क्या है? क्या ऐसा कोई ज्ञान है जो इस प्रकार की सामान्यता से मुक्त होकर सार्वभौम है या बन सकता है? यह बात सोचने की है।

दयाजी ने इस तरफ कोई अंतिम मत व्यक्त नहीं किया है, कल वे कुछ कहें तो मैं नहीं जानता। दो प्रकार के ज्ञान हैं जिनके बारे में लोग धारणा रखते हैं कि वे परम्पराओं के अंतर्मुख होते हुए भी वास्तव में सार्वभौम हैं-एक तो आजकल विज्ञान के बारे में धारणा है और सभी परम्पराओं के आध्यात्मिक ज्ञान के बारे में या धर्म के ज्ञान के बारे में धारणा रही है। वे स्वयं अपने मत के प्रकाशन के पक्ष में नहीं हैं लेकिन स्वयं यह नहीं मानते कि कोई भी ज्ञान या विचार-पद्धति किसी प्रकार से सार्वभौम होती है। सब वास्तव में सामाजिक जीवन से बँधी रहती हैं यद्यपि सामाजिक जीवन स्वयं उनके साथ बँधा रहता है और दोनों की व्याख्या अलग नहीं की जा सकती। इस सिलसिले में दयाजी ने राजनैतिक चिन्तन का उल्लेख किया और कहा कि यह विस्मय की बात है कि आजकल जब सामाजिक जीवन के बारे में अध्ययन किया

जाता है तो हम लोग वेबर और अरस्तु से ही अपने विचार आरम्भ करते हैं। यह सचमुच बड़े खेद की बात है। ऐसा नहीं है कि वेबर और अरस्तु का हम अध्ययन न करें, वह बड़ी अच्छी बात है लेकिन अध्ययन वह व्यक्ति कर सकता है जो पहले अपने संदर्भ में, अपने जीवन, अपने अनुभव, अपनी परम्परा के संदर्भ में, अपनी भाषा के द्वारा चिन्तन में समर्थता प्राप्त कर चुका है- वह अवश्य नाना विचारकों को पढ़ सकता है, समझ सकता है, जहाँ तक उनके संदर्भ से वह परिचित है, किन्तु हमारे यहाँ हम लोग अपने राजनैतिक चिन्तन की परम्परा से ही इसलिए परिचित नहीं हैं, बल्कि उस संदर्भ को भी हम लोगों ने विचारों को उधार देकर बदलने का प्रयत्न किया है जो स्वयं हमारे लिए आलोचित रहे हैं। आपको पता होगा कि अर्थशास्त्र के बारे में राजेश्वर शास्त्री द्राविड़ ने बड़ी विस्तृत व्याख्या लिखी है। उसका अभी कुछ बनारस से प्रकाशित भाग है लेकिन वह भी अभी पूरा प्रकाशित नहीं हो पाया है लेकिन भारतवर्ष में उसके बारे में कोई अर्थशास्त्री नहीं जानता। हमारे यहाँ राजेश्वर शास्त्री न्याय के एक प्रकाण्ड विद्वान थे, उनका ख्याल था कि अर्थशास्त्र पर स्वाधीन भारत चिन्तन करेगा तो प्राचीन परम्पराओं का महत्व होगा, पर ऐसा हुआ नहीं।

किसी ग्रन्थ का पाठ भी आवश्यक होता है और परम्परा से परिचय भी आवश्यक होता है। मैं दयाजी की इस बात का अवश्य समर्थन करूँगा कि वार्तिकार होने चाहिए लेकिन साथ ही साथ भाष्यकर भी होने चाहिए। ग्रन्थों को यदि आप छोड़ देंगे तो परम्परा को भी छोड़ देंगे, फिर आपके विचार मौलिक विचार तो होंगे लेकिन वे मूल से सम्बद्ध विचार नहीं होंगे, यही मेरा कहना है। वास्तव में स्वतंत्रता एक कठिन चीज है। 'स्व' को पहचान कर ही स्वतंत्रता सम्भव हो पाती है। मनुष्य का 'स्व' केवल तात्कालिक 'स्व' नहीं है, वह उसकी स्मृतियों के साथ, उसकी शिक्षा के साथ, उसकी पूरी परम्पराओं के साथ बँधा रहता है, भले ही उस समय उसे उस सबका ज्ञान न हो। प्रो० से.यो.बो. बड़े इतिहासकार थे। आप कोई भी बात कहिए, कोई चीज आप उन्हें दिखाइए तो वे आपको बता देते कि उसका अतीत क्या है, वह कहाँ से पैदा हुई। कोई विचार ऐसा नहीं है, आपके इस्तेमाल की कोई चीज ऐसी नहीं है, जिसका अपना

दीर्घ इतिहास नहीं है। आपको बता देंगे कि वह कहाँ से शुरू हुआ था और आपके पास कैसे इतिहासकार पहुँचा। पूर्ण मौलिकता की बात जो आप कह रहे हैं, वह बात नहीं है।

मैं कह रहा हूँ कि आप उस परम्परा में किसी चीज को मानिए, यह तो हो सकता है लेकिन यह संभव नहीं है कि आप जहाँ हैं, वहीं अपने को स्वतंत्र मानकर आप प्रारम्भ करें। स्वतंत्रता प्राप्त करने की चीज है, वह कोई मिली हुई चीज नहीं है—जिसका 'स्व' मान्यता से आया है, वह वास्तव में आपकी है या नहीं, उसमें और क्या गम्भीर बातें आक्षिप्त हैं, क्या अपूर्व हैं—यह सब जानने की आवश्यकता पड़ती है। उसके लिए आपको अपनी शिक्षा, अपने प्रदत्त विचार, अपने अर्जित विचार, इन सबकी समीक्षा की आवश्यकता होती है। यही जो आपकी अपनी परम्परा रही है, औरों की परम्परा को भी निकट ला सकती है, परम्पराओं में अवश्य एक सम्बन्ध भी रहता है, लेकिन वह न्यूनाधिक की बात है।

एक बात और कहूँगा। इसे मैं मानता हूँ कि परम्परा आवश्यक भी है और यह भी सही है कि परम्परा में सुधार और परिष्कार भी आवश्यक है। दोनों बातें सही हैं लेकिन मैंने यह देखा कि हमारे देश में परम्पराओं के बारे में जो दृष्टियाँ हैं, वे दो हैं—एक तो वह है जिसे परम्परावादी दृष्टि कहते हैं, जो जैसी परम्परा है, उसे वैसे ही सम्पूर्ण और सही मानते हैं—ऐसे लोग वास्तव में परम्परा के इतिहास से अपरिचित हैं। वे उतनी ही परम्परा जानते हैं जितने में वे साक्षात् रूप से शिक्षित हैं, जैसे न्याय पढ़ते हैं तो पिछले ३०० वर्षों के इतिहास से परिचित होते हैं। वे भी प्रायः इस बात से परिचित नहीं होते हैं कि उस समय के शास्त्र और व्याख्याताओं ने किस संदर्भ में अपनी बातें कहीं। यह उनके अध्ययन का अंग नहीं था। जो परम्परागत दृष्टि परम्परा के बारे में है, उसमें एक दोष तो निश्चित है कि वे ऐसा मान लेते हैं कि परम्परा का जो अध्ययन रूप है, वही उसका सर्वोच्च रूप है। उदाहरण के लिए वेदों के विषय में जो सायण ने लिखा था वही वास्तविक रूप था। इस वृत्ति का राजा राममोहन राय आदि अनेक मनीषियों ने खण्डन किया है,

दयानन्द भी उसी कोटि में आते हैं, उसका एक परिणाम यह हुआ कि परम्परावादियों में और सुधारवादियों में बड़ा मतभेद पैदा हो गया। ऐसा कहा गया कि नहीं, ये सब भ्रान्तियाँ हैं, परम्पराओं की स्थिति वैसी नहीं है। बल्कि करपात्रीजी ने इस पर बड़ी मोटी जिल्दें लिखी हैं जो सब दयानन्द के खण्डन पर ही आधारित हैं। दूसरे खण्डन सामान्य हैं। लेकिन दयानन्द जी के विचारों का खण्डन प्रमुख है। उनका वेद-भाष्य है लेकिन दयानन्द-भाष्य का खण्डन उसमें मुख्यतः मिलता है। वैसी ही स्थिति बौद्ध-धर्म की भी है, बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों में और पाली के जो विद्वान हैं, वे ऐसा मानते हैं कि जैसे सिंहली परम्परा व्याख्यान की बनी रही है, वही परम सत्य है। ऐसी बातें तिब्बती लोग भी मानते हैं। यानी परम्परावादियों में यह सबसे बड़ा ऐब है कि वे परम्परा के अपने विकास की पूरी तरह से परीक्षा नहीं करते। वे यह नहीं देखते कि परम्परा स्वयं अपने मूल से हटती चली जाती है।

परम्परा के बारे में दूसरी दृष्टि यह है, कि वह बेकार हो चुकी है, कालात्यस्त हो चुकी है, निर्जीव है। अब परम्परा को अलग रखकर नए संदर्भ में नए ढंग से सोचना आवश्यक है और अवश्य सोचा जाना चाहिए। लेकिन काव्य को छोड़कर नया ढंग अपने आपमें कोई गुण नहीं होता। विज्ञान के क्षेत्र में लोग कहते हैं कि नई बातें जो हो रही हैं, जो कुछ हो रहा है, वह सब पुरानी बातों पर परीक्षा हो रही है और जब कुछ गलत परिणाम सामने आता है तभी उसे छोड़ते हैं और यदि नई बातें ध्यान में आती हैं तो उन्हें पुराने सिद्धांत पर समझने की कोशिश करते हैं, उसे 'मोडीफाई' करते हैं और जब भी 'फिट' नहीं बैठता है तब उसे छोड़ते हैं। इस तरीके से चलता रहता है। नयापन विचार क्षेत्र में कोई गुण नहीं होता लेकिन नयापन अनिवार्यतः सत्यान्वेषी के सामने आता है। परम्परा के सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि बिना परम्परा के परिचय के, अपना परिचय नहीं होता और बिना अपने परिचय के परम्परा का परिचय नहीं होता। दोनों बातें आपस में जुड़ी हुई हैं। आप प्राचीन ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद करें, भारतीय लोगों के लिए यह अनावश्यक है लेकिन प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद आजकल के भाष्य के लिए आवश्यक है क्योंकि प्राचीन भाषा के चिन्तन का आजकल के अनुभव

के चिन्तन से जुड़ना आवश्यक होता है तभी वह ठीक होता है और इसीलिए प्राचीन भाषाएँ बदलती रहती हैं। कभी एक भाषा बराबर नहीं चलती है। जो भाषा सूत्रों की है वही भाषा भाष्यकारों की नहीं है और जो भाषा भाष्यकारों की है, वह बाद के टीकाकारों की नहीं है। भाषा बदलती रहती है। यदि वह भाषा जीवन्त भाषा से, व्यवहार की भाषा से न जुड़े तो फिर उसमें खुलापन खत्म हो जाता है, फिर वह अपने ही बन्धन में बंधती चली जाती है। वह बात हर परम्परा के लिए भयानक होती है। मैं यह नहीं कहूँगा कि परम्परा के विषय में उसे अपनाना और बदलना, उसका स्वयं चिन्तन, यह आवश्यक है किन्तु उसके लिए यह जरूरी है कहीं हम इस बात को समझें कि परम्परा कैसे प्रारम्भ हुई, कैसे अपने मूल से हटी, किन कारणों से उसकी भाषा बदली और अब वह हमारी किस नई भाषा में है, किस भाषा में उसे हम फिर से कह सकते हैं ताकि वह हमारे नए जीवन के लिए पथप्रदर्शक बन सके। इसीलिए दयाजी की जो अनुशंसा है, वह सभी के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। इसका उदाहरण वे कल प्रस्तुत करेंगे, जिसकी हम लोग प्रतीक्षा करेंगे लेकिन दयाजी की शैली ऐसी है कि वे अपनी बात को बड़े 'पैराडॉक्सिकल' ढंग से हमेशा कहते हैं। यदि पहले कोई बात कहनी हो तो उससे उल्टी बात से शुरू करेंगे। आपको उनकी दोनों बातों के बीच में से तात्पर्य ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। वे यह भी कहते हैं कि परम्पराएँ जीवित नहीं रहेंगी, जो दुर्भाग्य की बात है और यह भी कहते हैं कि परम्पराओं को समझना चाहिए और मूल रूप से बदलना चाहिए। जहाँ तक समझने की बात है, वह बहुत अच्छी है। अंत में, मैं बिशनजी को धन्यवाद देता हूँ, उन्होंने मुझे यहाँ आकर व्याख्यान देने और सुनने का अवसर प्रदान किया। आप सबको भी मैं धन्यवाद देता हूँ।

**श्री दयाकृष्ण :** मैंने आपके सामने यह कहने की कोशिश की थी कि संस्कृति में जब शास्त्र की रचना होती है तब उसमें एक मूलभूत परिवर्तन आता है। वह मूलभूत परिवर्तन इस प्रकार से समझा जा सकता है कि तब बुद्धि उसके केन्द्र में स्थापित होती है, बुद्धि सारे जगत् को देखती है, उस जगत् को देखती है जिसकी रचना मनुष्य ने की है। संस्कृति का एक स्तर मनुष्य की रचना का स्तर है। अनेकानेक क्षेत्रों में मनुष्य

अपना कृतित्व करता है लेकिन जब आत्मचिन्तन में सब को देखता है तो वह सब विषय-रूप में उपस्थित होता है और जब उस पर चिन्तन करता है तब उसके अलग-अलग क्षेत्रों का शास्त्र बनता है। उस समय मैंने यह कहने की कोशिश की थी कि एक नये युग का प्रारम्भ होता है, जिसे सभ्यता कह सकते हैं, जिसे अंग्रेजी में 'सिविलाईजेशन' कहा जा सकता है। आप इस परिवर्तन के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग कर सकते हैं इससे संस्कृति का एक नया स्तर, एक नया आयाम खुलता है और वह नई परम्परा को जन्म देता है, जो बौद्धिक परम्परा होती है। उसमें संस्कृति अपने को समझने की चेष्टा करती है, सतत् रूप से समझती है और जिस प्रकार से मनुष्य की अपनी समझ है, आप जिसे अस्मिता कहते हैं, उस अस्मिता की खोज और संस्कृति की अस्मिता की खोज दोनों जुड़ जाते हैं। संस्कृति की अस्मिता कभी समाप्त नहीं होती है, वह एक चिरन्तन जैसी चीज है, या प्रक्रिया है जिसमें वह बनती रहती है, बदलती रहती है। उसी प्रकार से जो मनुष्य होता है, वह चूँकि संस्कृति का अभिन्न अंग है इसलिए उसकी अस्मिता बनती रहती है, बदलती रहती है, बढ़ती रहती है। यही मैं कहने की चेष्टा कर रहा हूँ कि वास्तव में संस्कृति की जो पहचान है, वह कोई ऐसी नहीं है जिसे आप एकदम पकड़ सकते हैं। वह कोई ऐसी चीज भी नहीं है जो एकदम समाप्त हो जाती है। संस्कृति स्वयं अपने को खोजती है, जैसे मनुष्य अपने को खोजता है और यह प्रक्रिया काल में अनन्त है। परन्तु अगर यह काल में अनन्त है तो हमको परम्परा से जो प्राप्त होता है, उसके प्रति हमारा क्या उत्तरदायित्व है, वही कहने की मैंने चेष्टा की थी।

आज मैं आपके सामने कुछ ऐसी बातें कहना चाहता हूँ जो काफी मुश्किल हैं, क्योंकि उसके दो पक्ष हैं—एक पक्ष यह है कि अपनी परम्परा का जो बौद्धिक विस्तार है उसके अनेकानेक आयाम हैं। उनमें जो कुछ उपलब्धियाँ हैं, मैं उनकी चर्चा करना चाहता हूँ। दूसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ वह यह कि आपके सामने करके दिखाऊँ कि उसमें कैसे परिवर्द्धन हो सकता है, उसे हम कैसे भिन्न दिशाओं में ले जा सकते हैं। ये दो भिन्न दिशाएँ हैं जिनमें से एक भूत काल की ओर देखती है,

पीछे की ओर देखने की दृष्टि है और दूसरी आगे की ओर देखने की दृष्टि है। इन दोनों को कैसे समन्वित रूप में आपके सामने रखूँ, यह मैं कोशिश करूँगा। यह विडम्बना तो है, मैं लेकिन यह कार्य करने की कोशिश करूँगा। कुछ भी कहने से पहले यह जो कोशिश है, अगर यह कोशिश जरा-सी भी ठीक है, तो अगर कोई उठकर यह सवाल उठाए कि आप जो कह रहे हैं, वह ग्रन्थों के अनुरूप नहीं है, परम्परा में इसको इस प्रकार से नहीं समझा गया है तो जो बात मैं कहने की चेष्टा कर रहा हूँ, उसे न समझकर ही वह ऐसा कहेगा, क्योंकि जैसा मैंने भी कहा था, ये दो अलग-अलग सवाल हैं कि अब तक इस बात को कैसे समझा गया है और अब हमें इसे कैसे समझना चाहिए? ऐसा नहीं है कि पूर्व में इस प्रकार की बातें नहीं हुई हैं। कल मैंने इशारा किया था कि गीता के जो रचयिता हैं, जो विचारक हैं, हम कहते हैं, जिन्हें हम स्वयं भगवान के रूप में मानते हैं लेकिन उनका यज्ञ के बारे में जो चिन्तन है, वह क्या वही है जो जैमिनी का था या जो मीमांसकों का था। वेदों के बारे में जो गीता में कहा गया है वो क्या और भी कोई कह सकता है “कामात्मनः स्वर्गपरा जन्म कर्म फलप्रदाम्, क्रिया विशेष बहुलाम भोगै स्वरे गतिमप्रति” सब जानते हैं, मगर जानकर भी नजर-अंदाज करते हैं लेकिन वही कृष्ण यज्ञ के बारे में कहते हैं कि मुझे याद नहीं आ रहा है लेकिन यज्ञ का प्रारम्भ यज्ञ की सृष्टि के साथ ही होता है। यज्ञ के अनेक आयाम हैं, नई दिशाएँ हैं जिन्हें परम्परा में खोजा गया है। दूसरे कई प्रत्ययों की चर्चा भी मैं कर सकता हूँ। जब हम परम्परा पर दृष्टिपात करते हैं तो हम उसको इस प्रकार से देखते हैं जैसे मानो वह एक ही तरह की है और जैसे उसमें ढाई हजार साल से कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, जबकि उसमें विशाल परिवर्तन हुआ है, एक के बाद एक चिन्तक आए हैं और उन्होंने उसमें परिवर्तन किया है। इसमें उन लोगों को कोई परेशानी नहीं होती थी यह कहने में कि पहले जो कहा गया था वह गलत है उसे इस प्रकार से देखना चाहिए, पर आज हमें इसमें परेशानी क्यों होती है? हम भी उसी प्रकार के चिन्तक क्यों नहीं बनते जैसे हमारे पूर्वज थे? वास्तव में अगर हमको परम्परा को बढ़ाना है तो हमें उसी प्रकार का व्यक्ति बनना पड़ेगा जैसे

हमारे पूर्वज थे। परम्परा के प्रति आदर, उसका ज्ञान और अपने में यह शक्ति महसूस करना कि हम इससे आगे जा सकते हैं, इसके नए आयाम खोल सकते हैं और दूसरों के लिए कुछ नया रास्ता दिखा सकते हैं।

अब सवाल है कि कहाँ से शुरू करें, किस प्रत्यय को लें? क्योंकि प्रत्ययों का एक जगत् होता है, प्रत्ययों में एक परस्पर संबंध होता है। किसी एक प्रत्यय को उठाइए, किसी एक विचार को उठाइए तो ऐसा नहीं होता कि उसके साथ अन्य विचार जुड़े नहीं होते। इस थोड़े से समय में मैं आपको किस प्रकार से समझाऊँ, किस प्रकार से दिखाऊँ कि हमारी परम्परा में विचार का कितना वैभव है और इस वैभव में हम कितना और जोड़ सकते हैं? ऐसा करने की चेष्टा में अगर मैं थोड़ा भी सफल हो पाता हूँ तो मैं समझूँगा कि मेरे ये व्याख्यान सफल रहे हैं।

मनुष्य क्या है? समाज क्या है? राज्य क्या है? हमेशा आदमी ने इसके बारे में सोचा है। बुद्धि सबको देखती है और यह भी पूछती है कि वह स्वयं क्या है, यह सोचने की प्रक्रिया क्या है? मनुष्य क्या है—जब इस पर लोगों ने सोचा तो क्या कहा? आप सबको पता है कि ग्रीस में मनुष्य की परिभाषा दो प्रकार से की गई थी। अरस्तु की परिभाषा को दो रूप में रखा गया है। एक यह कि मनुष्य सामाजिक या राजनीतिक प्राणी है और दूसरा यह कि मनुष्य ऐसा प्राणी है जिसके पास बुद्धि भी है। मैं इस बात को दूसरी तरह कहूँगा, उसके चिन्तन के अनुसार मनुष्य बुद्धिनिष्ठ प्राणी है। इसलिए किसी भी संस्कृति को समझने के लिए उसके बौद्धिक-केन्द्र को देखना चाहिए। परन्तु भारतीय संस्कृति ने मनुष्य को इस प्रकार से नहीं देखा— फिर कैसे देखा? सबको पता है कि हमारे यहाँ मनुष्य का भेद अन्य प्राणियों से नहीं किया गया, धर्म के आधार पर किया गया—“धर्मो हि ते पामहि विशेषः अधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना” —धर्म के बारे में अनन्त चिन्तन हुआ है लेकिन इस चिन्तन का पहला सूत्र देखिए—धर्म वह है जो प्रत्यक्ष या अनुमान से नहीं जाना जा सकता वह बुद्धि के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता क्योंकि बुद्धि का आधार प्रत्यक्ष या अनुमान ही होता है।

सब-कुछ हम कैसे जानते हैं? अगर धर्म मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण है, जो मनुष्य को सारे प्राणीमात्र से अलग करता है तो इसका ज्ञान कैसे हो-किं कर्तव्यम्-क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए? क्या उचित है और क्या अनुचित है? इसका ज्ञान कैसे होता है? सबको पता है कि मीमांसा सूत्र में जैमिनी ने कहा है कि यह ज्ञान न प्रत्यक्ष से होता है और न अनुमान से होता है। अगर ऐसा है तो तब हमें यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य में कोई ऐसी शक्ति है जो प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न है, जिसके द्वारा उसे धर्म का ज्ञान होता है किन्तु यह सब जैमिनी ने नहीं कहा, बल्कि जैमिनी ने तो यह कहा कि यह ज्ञान श्रुति से होता है।

अब प्रश्न है कि श्रुति क्या है? श्रुति अपौरुषेय है, श्रुति अनादि है ऐसा मानने की क्यों आवश्यकता हुई? इन सब विचारों में, मैं यहाँ नहीं जाऊँगा। मैं इस वक्त आपको सिर्फ इतना बताना चाहता हूँ कि अगर हम यह मान लेते हैं कि मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण धर्म है और धर्म का कर्म से सम्बन्ध है तो तब के बारे में हमारी दृष्टि मनुष्य कर्म-प्रधान बनती है। पर अगर हम अपने यहाँ की ज्ञान केन्द्रित परम्परा पर विचार करें तो लगेगा कि कर्म किसी बंधन का कारण है। इसलिए उसके अनुसार कर्म निष्काम होना चाहिए तभी वह बन्धन का कारण नहीं बनेगा पर जिन लोगों ने यह कहा उन्होंने यह नहीं सोचा कि अगर यह मान भी लें कि निष्काम कर्म मेरे बन्धन का कारण नहीं होता तब भी यह कैसे निष्कर्ष निकलेगा कि वह 'अन्य' के बन्धन का कारण नहीं बनेगा।

मनुष्य जब अपने को समझने की चेष्टा करता है तो अपने को विषय-रूप में पाता है-वह आत्मचेतन प्राणी है-विषय-रूप में देखने पर वह अपने को शरीर पाता है, मन पाता है, इन्द्रियाँ पाता है। उसके सामने समस्या यह उत्पन्न होती है कि चेतना का विषय जो है, उसका चेतना से तादात्म्य नहीं हो सकता, परन्तु वह अपने को उससे विलग भी नहीं मान सकता। शरीर मेरे लिए विषय-रूप है लेकिन क्या मैं यह सोच सकता हूँ कि यह शरीर मेरा नहीं है? संकल्प से शरीर संचालित

होता है तो शरीर मैं हूँ भी और नहीं भी हूँ। इसी प्रकार से चेतना का एक स्तर बनता है जहाँ व्यक्ति स्वयं विषय रूप में उपस्थित होता है और उसके सामने यह समस्या उत्पन्न होती है कि जो विषय-रूप में उपस्थित है वह एक प्रकार से तो वह स्वयं है, पर चूँकि वह उसे अपने से अलग 'विषय-रूप' में पाता है, इसलिए वह अपने को पूर्ण रूप में वैसा कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। अब आप देखिए कि कैसी विडम्बना है कि विचार कहाँ ले जाता है-एक ऐसे तादात्म्य की ओर ले जाता है, मनुष्य को एक ऐसे स्तर की ओर ले जाता है, जहाँ वह अपने को ऐसी स्थिति में पाता है कि मैं यह हूँ और नहीं भी हूँ। दो अंशों में वह है भी और नहीं भी है-एक आयाम वह है जिसके बारे में हमें शुद्ध बौद्धिक दृष्टि से कहना पड़ता है कि वह है भी और नहीं भी। क्योंकि जो विषय-रूप में उपस्थित होता है, वही यह कहता है कि वास्तव में विषय-रूप नहीं है कुछ और है। पर यह एक विल्कुल शुद्ध बौद्धिक बात होते हुए भी हमारी अनुभूति का विषय भी होती है क्योंकि जो मैं 'विषय-रूप' उसका मैं अनुभव करता हूँ और ऐसा अनुभव करता हूँ कि यह मुझसे विलग है। लेकिन वह एक प्रकार से विलग है भी और नहीं भी है। इस अनुभव का दूसरा आयाम भी है जहाँ एक साथ हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ वह है भी और नहीं भी। लेकिन वह और तरह का है। यह विषय के वैसा नहीं है जैसा उसे होना चाहिए। बल्कि यह उससे कुछ भिन्न प्रकार का है।

मैं जिस मनुष्य की खोज कर रहा हूँ, परम्परा में उसका चिन्तन हुआ है। जब मैं स्वयं उस पर चिन्तन करता हूँ तो पाता हूँ कि बड़ी अजीब बात है, क्योंकि मैं अपने बारे में जो जानना चाहता हूँ-'आत्मानम्विद्धि' को पाण्डेयजी ने परम्परा के एक मूल स्वर के रूप में देखा है। पर जब मैं जानने की कोशिश करता हूँ-तब मुझे ऐसा मालूम होता है कि मैं शरीर हूँ और नहीं भी हूँ। क्या शरीर वैसा है जैसा इसे होना चाहिए? रोज हमारे मन में अनेकानेक विचार उठते हैं, इच्छाएँ उठती हैं, वासनाएँ उठती हैं, कोई विचार अच्छे होते हैं, कुछ खराब भी होते हैं और ऐसा लगता है कि क्या वह सब कुछ सही है जो मेरे मन में उठ रहा है-मैं ऐसा नहीं हो सकता, मुझे ऐसा नहीं होना चाहिए।

इसी प्रकार से जो अनेकानेक स्तर हैं, उनके बारे में मुझे दो अलग-अलग प्रकार की एक साथ अनुभूति होती दिखाई देती है-एक यह है कि मैं हूँ, नहीं भी हूँ और दूसरा यह है कि जैसा इसे होना चाहिए वैसा नहीं हूँ। तब मैं क्या करूँ-तब मेरे सामने दो प्रकार के कर्म, दो प्रकार के उत्तरदायित्व, भिन्न प्रकार की कर्तव्यताएँ प्रकट होती हैं-एक यह कि मैं इसे ऐसा बनाऊँ जैसा इसे होना चाहिए और दूसरा यह कि मैं इससे तादात्म्य हटाऊँ। मैं इससे जो ऐसा समझ रहा हूँ कि यह मैं हूँ, मैं वास्तव में इससे अलग हूँ, विलग हूँ और पूर्णरूपेण से विलग हूँ। यहाँ दो साधनाएँ आपके सामने उपस्थित होती हैं-एक साधना यह है कि जो भी पूर्णरूपेण हमारे सामने उपस्थित होता है आप उससे विलग हों, उससे तादात्म्य स्थापित न करें। यह सांख्य की साधना, कैवल्य की साधना है। दूसरी साधना वह है जो सांख्य ने नहीं सोची है लेकिन जिसे वे सोच सकते थे। वह सब वैसा नहीं हो जैसा उसे होना चाहिए। और उसे वैसा होने के लिए मेरे संकल्प-कर्म की जंरूरत है इसीलिए मैं उसकी अपूर्णता के लिए स्वयं उत्तरदायी हूँ। वही मेरा पुरुषार्थ है कि मैं अपने संकल्प और कर्म के द्वारा जो भी विषय-रूप में उपस्थित होता है उसको उसकी पूर्णता की ओर ले जाने में सहायक बनूँ, बाधक नहीं। पुरुषार्थ पर परम्परा में बहुत चिन्तन हुआ है क्योंकि पुरुष या व्यक्ति या मनुष्य को तब तक नहीं समझा जा सकता, जब तक हम यह नहीं समझें कि उसका पुरुषार्थ क्या है? आप विचार कीजिए कि यह कैसी समस्या है? हमने मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण पूछा था और मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण धर्म बताया था लेकिन जब हम पुरुषार्थ की बात करते हैं तो केवल धर्म की ही बात नहीं करते, अर्थ और काम की भी बात करते हैं पर अगर अर्थ और काम मनुष्य के व्यावर्तक लक्षण नहीं हैं तो फिर वे मनुष्य का पुरुषार्थ कैसे हो सकते हैं। यह कहा जा सकता है कि अर्थ और काम के बिना धर्म की सिद्धि नहीं हो सकती इसीलिए उन्हें पुरुषार्थ माना गया है। पर ऐसा स्वीकार करने पर भी अर्थ और काम केवल साधन रूप में ही स्वीकार होंगे, साध्य रूप में नहीं। लेकिन जब पुरुषार्थ की बात होती है तो साध्य की बात होती है, साधन की नहीं। इसलिए अर्थ और काम को पुरुषार्थ रूप में मानने पर उनको मनुष्यता का अनिवार्य अंग मानना

पड़ेगा, केवल धर्म को ही नहीं। क्योंकि मनुष्य तो व्यावर्तक लक्षण के रूप में धर्ममात्र है। अगर काम और अर्थ वास्तव में मनुष्य के मनुष्यत्व के लक्षण नहीं हैं तो ये उसके पशुत्व के लक्षण होंगे। फिर वे पुरुषार्थ के रूप में कैसे उपस्थित हो सकते हैं? इतने हजार सालों से लोग कहते आए हैं, सोचते आये हैं। हाँ, पुरुषार्थ क्या है-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ठीक ही कहा गया है-धर्माविरुद्ध अर्थ और काम पुरुषार्थ नहीं हैं। वह धर्म से अविरुद्ध होना चाहिए परन्तु वह फिर पुरुषार्थ कैसे हुआ? यह सवाल ही कभी नहीं उठाया गया। जैसे ही आप यह सवाल पूछेंगे तो चिन्तन का एक नया आयाम पैदा होगा कि नहीं, मैं केवल धर्म मात्र नहीं हूँ, मेरे में काम भी है-वह काम किसका है, काम मेरा तो हो नहीं सकता, फिर काम कहाँ से उत्पन्न हुआ-काम का दूसरा नाम है-मनसिज-जो मन में उत्पन्न होता है। अब सवाल है कि मन का व्यावर्तक लक्षण क्या है, मन का पुरुषार्थ क्या है, शरीर का पुरुषार्थ क्या है? शरीर को इन्द्रिय रूप माना है। पर फिर उन इन्द्रियों का पुरुषार्थ क्या होगा? इन सब में एक और भेद किया गया है-वह सूक्ष्म और स्थूल का है। यह भेद सांख्य में भी किया गया है। पर जब इन्द्रियों में भेद करते हैं, तब मन के अन्दर ऐसा क्यों नहीं करते? मन में भी सूक्ष्म स्थूल का भेद करना चाहिए। पर सवाल उठेगा कि सूक्ष्म मन क्या है? बुद्धि के संदर्भ में भी हमें यह भेद करना पड़ेगा, और वहाँ भी यह सवाल उठेगा कि सूक्ष्म बुद्धि क्या है और स्थूल बुद्धि क्या है? इसके अलावा हमारे यहाँ सात्विक, राजसिक और तामसिक वृत्ति का भी भेद किया गया है। यदि ऐसा है तो फिर हमें शरीर, मन, बुद्धि आदि के बारे में सात्विक, राजसिक और तामसिक का भी भेद करना होगा और यह भेद स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही स्तर पर लागू होगा।

यह ठीक है कि शरीर, मन, बुद्धि आदि सब विषय-रूप में उपस्थित होते हैं और इसलिए मेरा उनसे तादात्म्य अविद्या या अज्ञान के कारण होता है। पर कारण कुछ भी हो, वास्तविकता तो यह है कि मैं अपने को ऐसा पाता हूँ कि मैं शरीर हूँ भी और नहीं भी। मन हूँ भी और नहीं भी। बुद्धि हूँ भी और नहीं भी। मेरी जो ऐसी अवस्था है, उसी के बारे में मुझे यह चिन्तन करना है। अब प्रश्न है कि इसके बारे में

चिन्तन करना है तो कैसे करना है? इन सबके पुरुषार्थ को ढूँढना है, इन सबके भेद पता लगाने हैं और यह पता करना है कि इसमें राजसिक, तामसिक और सात्विक का भेद क्या है, सात्विक बुद्धि कैसी होती है? गीता में इस विषय पर चर्चा की गई है पर वहाँ जो सात्विक ज्ञान का लक्षण बताया गया है वह वास्तव में सात्विक बुद्धि का लक्षण होना चाहिए था। सात्विक ज्ञान के बारे में गीता में कहा है कि यह ज्ञान वह है जो अनेक में एकत्व को देखता है, पर वास्तव में ये सात्विक बुद्धि का लक्षण मानना पड़ेगा कि वह अनेकता में एकता को देखती है और उस बुद्धि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान को हम सात्विक ज्ञान कह सकते हैं। पर गीता के लिखने वाले ने इस बात को इस तरह से नहीं लिखा है, उसने तो सात्विक बुद्धि का अलग लक्षण दिया है और सात्विक ज्ञान का अलग, और दोनों के बीच कोई विशेष सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। राजसिक बुद्धि को भेद-प्रधान माना गया है, जो भेद देखती है, पर फिर तामसिक बुद्धि क्या होगी? यहाँ हम देखते हैं कि परम्परा में जो ज्ञान की चर्चा हो रही है वह कुछ डगमगाती है, क्योंकि उसके पास तीन ही कोटियाँ हैं। वह बेचारी क्या करे? अगर उसके पास तीन ही कोटियाँ हैं तो तीन से ही काम चलाना पड़ेगा। लेकिन हमें यह दिखता है कि इन तीन कोटियों से हमारा काम नहीं चलने वाला है, इसलिए कुछ और कोटियाँ बनानी पड़ेंगी, नये रूप में सोचना पड़ेगा। पर इस संदर्भ में यदि हम सांख्य के चिन्तन को उसके असली रूप में अपनाने की चेष्टा करें तो वह विचार की एक ऐसी दिशा खुलेगी जो हमें चौंका देगी, क्योंकि उसके अनुसार शुद्ध-सात्विक या शुद्ध-राजसिक या शुद्ध-तामसिक कुछ नहीं होता। ये एक ही प्रकृति के तीन पक्ष हैं और ये तीनों पक्ष निरन्तर परिवर्तशील हैं। अगर आज रजस् का प्राधान्य है तो कल तमस का प्राधान्य होगा, फिर कल यदि तमस् का प्राधान्य है तो परसों सात्विक प्रकृति का प्राधान्य होगा। पर ऐसा मानने से हमें पुरुषार्थ-चिन्तन के लिए नई परेशानी होगी और वह कि हम किसी भी स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा करें वह उस स्थिति में बहुत देर तक वैसी ही नहीं रहेगी। उसमें अनिवार्य रूप से परिवर्तन आएगा, जो हमारे अपने हाथ की बात नहीं है, क्योंकि सांख्य के अनुसार प्रकृति

का स्वभाव ही यह है। वह वैसा हमेशा नहीं रहेगा। कल का प्राधान्य रजस् होगा, और परसों तमस् का। फिर क्या मैं ऐसा मानकर चलूँ कि सत्, रज और तम के बारे में मेरी जो समझ है, उसमें मुझे परिवर्तन करना होगा, फिर ऐसा सोचना पड़ेगा कि नहीं। रजस और तमस् बुरे नहीं हैं, उनकी भी प्रकृति में उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि जिसे हम 'सात्विक' कहते हैं उसकी। केवल सात्विक है, वह ही अच्छा नहीं होगा। अगर तीनों जो आज सत्य प्रधान हैं, प्रत्येक वस्तु के अनिवार्य अंग हैं। अगर अनिवार्य अंग हैं तो फिर अच्छे-बुरे का सवाल कैसे पैदा होगा? पर फिर धर्म का क्या होगा? क्या है उसका औचित्य? धर्म के विचार से हम चले थे कि धर्म मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण है और धर्म के पुरुषार्थ की भी चर्चा की थी। इसके साथ ही हमने शरीर, मन और बुद्धि के पुरुषार्थ की भी बात उठाई थी, यही नहीं, इनके स्थूल और सूक्ष्म रूपों की भी इनमें सात्विक, राजसिक और तामसिक भेदों की ओर इशारा किया था। परन्तु सांख्य के संदर्भ में इस भेद को समझने के प्रयास में हमें लगा कि अगर सांख्य की बात को स्वीकार कर लें तो पुरुषार्थ की बात ही खत्म हो जाएगी, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अगर हम मनुष्य को शरीर, मन और बुद्धि से बिल्कुल अलग मानें क्योंकि वे सब 'विषय' रूप हैं। इसलिए लगता है कि हमें परम्परागत विचार में कुछ मूलभूत परिवर्तन करना पड़ेगा अगर हम मनुष्य के इन सारे आयामों को स्वीकार करना चाहते हैं और उनके भिन्न-भिन्न पुरुषार्थ के ऊपर कोई सार्थक चिन्तन करना चाहते हैं। फिर हमने पुरुषार्थ की बात की और इन सबके अलग-अलग पुरुषार्थ की समस्या उठाई कि धर्म इन पुरुषार्थों में से केवल एक ही पुरुषार्थ है, हालांकि कुछ लोग उसको ही पुरुषार्थ मानते हैं और अन्य लोग केवल मोक्ष को या भक्ति को। परम्परा में धर्म और मोक्ष के अलावा अन्य पुरुषार्थों पर भी चिन्तन हुआ है। उदाहरण के लिए महाभारत में स्वयं श्रीकृष्ण ने काम-गीता कही है और एक अन्य स्थान पर यह चर्चा है कि पुरुषार्थों में सबसे बड़ा पुरुषार्थ कौन-सा है? वहाँ केवल युधिष्ठिर या विदुर ही मोक्ष की बात करते हैं बाकी तो सब अर्थ और काम को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं। काम के बारे में एक और चिन्तन भगवद्-गीता में भी हुआ है जहाँ



निष्काम कर्म की चर्चा की गई है और यह बताने की कोशिश की गई है कि कर्म कैसे किया जाए कि वह बन्धन का कारण न बने। तब पुरुषार्थ क्या है और कितने हैं और विभिन्न पुरुषार्थों के बीच क्या सम्बन्ध है इस सबकी कहानी लम्बी है और बड़ी भी। अब इसे कहाँ तक बढ़ाया जाए, इतने कम समय में, यह मेरे लिए एक सवाल है।

लेकिन यहाँ मैं बुद्धि के पुरुषार्थ की बात करना चाहूँगा चूँकि उसकी ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। कल भी मैंने इस बात को कहने की कोशिश की थी कि हम सब जो यहाँ बैठे हैं, अधिकतर बुद्धि-केन्द्रित प्राणी हैं। बुद्धि को मैंने संस्कृति के केन्द्र-बिन्दु में रखा था और कहा था कि बुद्धि शास्त्र की रचना करती है लेकिन बुद्धि का स्वयं का पुरुषार्थ क्या है? उसके बारे में कोई चर्चा ही हमारी परम्परा में नहीं है। कहा गया है कि बुद्धि का काम विवेक करना है और वह नित्य और अनित्य का भेद करती है। लेकिन अनित्य का तो सबको पता है लेकिन जो नित्य है उसका किसी को पता नहीं है। यदि ऐसा है तो इनमें विवेक कैसे किया जा सकता है। विवेक उन दो वस्तुओं में होता है जिनके बारे में हमें पता होता है। विवेक में आप कहेंगे कि यह ऐसा है, वैसा है लेकिन नित्य और अनित्य का विवेक कैसे हो सकता है क्योंकि अनित्य का तो पता है और नित्य के बारे में केवल सोच सकते हैं। अगर सभी अनित्य हैं तो केवल अनित्यता ही 'नित्य' होगी। यह ठीक है कि हम सोच सकते हैं कि शायद इन सबसे अन्य कोई वस्तु हो जो नित्य हो लेकिन वह केवल हमारा कल्पित विषय मात्र होगी अनुभूत सत्य नहीं, हालांकि कुछ लोगों ने यह कहने की चेष्टा की है कि चेतना जो स्वयं इन अनित्य वस्तुओं का अनुभव करती है वह नित्य है। पर जिस चेतना का हमें अनुभव है उसमें तो सदा ही परिवर्तन होता रहता है और फिर मैं अचेतन अवस्था को भी प्राप्त होता हूँ जब मुझे कुछ पता नहीं होता और मैं यह कहता हूँ कि तब मैं बेहोश था मुझे कुछ पता नहीं था। इस पता नहीं होने को भी पता होना माना गया है और इसके आधार पर अद्वैत वेदान्त ने अपने चिन्तन की नींव रखी है। इसकी विस्तार से यहाँ चर्चा करने की जरूरत नहीं है। लेकिन बुद्धि के पुरुषार्थ का जो प्रश्न हमने उठाया था उस पर थोड़ा और चिन्तन करना चाहिए। बुद्धि का पुरुषार्थ

अर्थ नहीं हो सकता, काम नहीं हो सकता, धर्म भी नहीं हो सकता और मोक्ष भी नहीं हो सकता तो बुद्धि के बारे में किसी अन्य पुरुषार्थ की बात करनी पड़ेगी।

पुरुषार्थ हमेशा किसी का होता है और इसलिए वह अहं के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा है। जब 'अहंकार' शब्द का प्रयोग होता है तो वह लोगों में एक अजीब-सी चेतना उत्पन्न करता है कि कितनी बुरी चीज है, अहंकार नहीं होना चाहिए। लेकिन अहंकार शब्द का यहाँ वह अर्थ नहीं है बल्कि गहरा अर्थ है कि जब तक मैं मनुष्य हूँ, जब तक आत्मचेतन प्राणी हूँ, तब तक उसे जो कुछ भी अनुभव होता है, उसके साथ यह लागू होता है कि यह मेरा अनुभव है-फिर यह सिद्धि किसकी हुई-मेरी हुई। यह ज्ञान किसे मिलेगा, मुझे मिलेगा, यह साधना किसकी है, यह मेरी है, पर यह कोई वैसा अहं नहीं है जिसे हम दोषयुक्त मानते हैं। यह तो सहज स्वाभाविक अहं है जो जब हमारी चेतना परकेन्द्रित होती है तब भी लगा रहता है क्योंकि जब चेतना दूसरे के हित के लिए हमेशा प्रयत्नशील होती है तो भी भावना यही होती है कि 'मैं' प्रयत्नशील हूँ, मैं किसी 'दूसरे' का हित कर रहा हूँ। मैं अपने भाषण में किसी पश्चिमी परम्परा की चर्चा अधिक नहीं करना चाहता लेकिन उसके बारे में जितना थोड़ा जानता हूँ, वहाँ जो इस सम्बन्ध में सार्थक बात है उसे उतनी ही कहने की कोशिश करूँगा। उस परम्परा में अहं के लिए 'आई' शब्द का प्रयोग किया जाता है। एक तरह से हम जो भी जानते हैं, महसूस करते हैं, संकल्प करते हैं, उसके साथ हमेशा I Know, I Feel, I will लगा रहता है। अगर यह सत्य है तो जब तक 'मैं' हूँ, तब तक दूसरों से विलग हूँ, अन्य पुरुषों से विलग हूँ और इसलिए पुरुषार्थ की चर्चा में यह भी अनिवार्य रूप से आता है कि इन दूसरों से किस प्रकार का सम्बन्ध हो। दूसरे के प्रति जो उत्तरदायित्व उत्पन्न होता है, वह बिल्कुल उस उत्तरदायित्व से भिन्न है जो मेरा अपने प्रति होता है, पर ऐसा क्यों है? क्योंकि वह चेतन है, इसलिए मेरा यह कर्तव्य हो जाता है कि मैं उसे दुख न दूँ। लेकिन कुछ दूसरी बातें भी उत्पन्न होती हैं कि मैं उसके पुरुषार्थ की साधना में सहायक बनूँ। यहाँ जो नया पुरुषार्थ उत्पन्न होता है, क्या हमारी परम्परा में इस पुरुषार्थ

के बारे में सोचा गया है कि जब मैं देखता हूँ कि मेरा पुरुषार्थ क्या है, दूसरे जो व्यक्ति हैं, जो मुझे विषय रूप में उपस्थित हो रहे हैं लेकिन वे स्वयं आत्मचेतन हैं तो मुझे एकदम पता लगता है कि वह भी पुरुषार्थ के सिद्धांत की प्रक्रिया में संलग्न हैं और मेरा यह धर्म है कि मैं इसमें उनकी सहायता करूँ। यहाँ एक नया धर्म उत्पन्न होता है कि मैं दूसरों की पुरुषार्थ-साधना में जितना सहयोग कर सकता हूँ, उतना करूँ। उसका 'प्रेय' पाने के लिए, और उसका 'श्रेय' पाने के लिए भी सहायता करूँ। जैसे यह उत्तरदायित्व उत्पन्न होता है, मेरी चेतना में एक परिवर्तन होता है, एक नए पुरुषार्थ का उदय होता है, उससे एक समाज की रचना होती है।

पर तब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुरुषार्थ के विचार के संदर्भ में हम समाज के बारे में किस प्रकार सोचें? मेरे पास जो थोड़ा सा समय है, उसमें मैं आपके सामने कुछ ऐसे विचार रखना चाहता हूँ कि हमारे यहाँ समाज के बारे में बहुत चिन्तन हुआ है। पर जब पुरुषार्थ की बात होती है, हम किस मनुष्य की बात करते हैं, उस मनुष्य की जिसमें शरीर भी है, जिसमें बुद्धि भी है, जिसमें अहंकार भी है। और अगर हम कल्पना-शक्ति को मनुष्य का अनिवार्य अंग मानें तो यह सवाल पैदा होगा कि उसका पुरुषार्थ क्या है? लोग कविता लिखते हैं। लोग उपन्यास लिखते हैं लेकिन जो लोग नहीं भी लिखते हैं उनमें भी कल्पना शक्ति होती है। ज्ञान में भी कल्पना-शक्ति का एक अंश होता है। जो लोग विज्ञान के बारे में जानते हैं, उन्हें मालूम है कि आज के विज्ञान के मूल में एक कल्पना-शक्ति काम करती है। उसकी प्रक्रिया कुछ इस प्रकार के सोचने से सम्बन्धित हो कि 'अगर ऐसा हो तो ऐसा होगा' और क्या-क्या हो सकता है। अगर हम यह मान लें कि उसके क्या नतीजे निकलेंगे तो फिर देखें कि क्या वास्तव में वैसे नतीजे सामने आते हैं या नहीं- यह एक बड़ी अनन्त संश्लिष्ट प्रक्रिया है आज के विज्ञान में, जिसकी मैं चर्चा नहीं करना चाहता। लेकिन मैं इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि खाली बुद्धि से काम नहीं चलेगा, खाली मन से भी काम नहीं चलेगा। मनुष्य के और भी आयाम हैं, उसमें दूसरी कई शक्तियाँ भी हैं जिनकी चर्चा होनी चाहिए। उनके अलग-अलग पुरुषार्थ हैं। हमें

देखना है कि इन पुरुषार्थों के बीच में सम्बन्ध क्या है, क्या कोई प्रज्ञा ऐसी है जो इन सब पुरुषार्थों को एक साथ देखती है, एक साथ बाँटती है ताकि इनमें विरोध न हो। पुरुषार्थ के विरोध की बात परम्परा में है। परम्परा में धर्म की बात ही नहीं है, धर्म-संकट की बात भी है। सारा महाभारत धर्मसंकट में पड़ा हुआ है। इसी प्रसंग में मुझे एक बात याद आती है। जब संजय को धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर के पास भेजा था यह कहने के लिए कि तुम तो सात्विक हो इसलिए तुम्हें नहीं लड़ना चाहिए? दुर्योधन तो पापी है, उसकी बुद्धि कुबुद्धि है, वह इसलिए लड़ना चाहता है क्योंकि वह लोभ में पड़ा हुआ है, उसे राज्य चाहिए। लेकिन आपको तो नहीं चाहिए, आप वनवास क्यों नहीं ले लेते, आप क्यों युद्ध करना चाहते हैं? उसके उत्तर में युधिष्ठिर कहते हैं कि कुछ ऐसे संदर्भ होते हैं जब अधर्म ही धर्म होता है। ऐसे समय अधर्म धर्म हो जाता है। आप धर्म की परिभाषा के बारे में सोचिए। अगर महाभारत में युधिष्ठिर जो धर्म के पुत्र समझे जाते हैं, धर्मराज कहलाते हैं, वही धर्मराज ऐसा कह रहे हैं कि कुछ ऐसी अवस्थाएँ होती हैं जब धर्म करना अधर्म होता है और अधर्म करना धर्म होता है तो धर्म की बात बगैर धर्म-संकट के नहीं कही जा सकती। अगर धर्म की बात बगैर धर्म-संकट के नहीं हो सकती तो वह संकट और भी गहरा है क्योंकि हम उसमें पुरुषार्थ की खोज कर रहे थे। पुरुषार्थ के संदर्भ में हमसे कहा गया था कि धर्म व्यावर्तक लक्षण है। अब हमें कहा जा रहा है कि धर्म को धर्म-संकट के बिना समझा ही नहीं जा सकता।

पर धर्म-संकट क्या है, धर्म-संकट को विचार का केन्द्रबिन्दु बनाइए। पर यह तो धर्मों में विरोध की बात करता है जबकि हम पुरुषार्थों में विरोध की बात कर रहे थे। क्या पुरुषार्थों में विरोध नहीं है? धर्म और मोक्ष के विरोध के बारे में इतना चिन्तन हमारे यहाँ हुआ है, कल मैंने कहा था कि कुछ संदर्भों में हमारे विचारकों ने कहा है कि नहीं, कोई अगर मुमुक्षु है तो राजा को उसे अमात्य नहीं बनाना चाहिए और राजा के लिए क्या कहा गया है-क्या राजा को मुमुक्षु होना चाहिए? कम से कम शास्त्रों में तो यह लिखा है कि नहीं होना चाहिए-बल्कि साफ लिखा हुआ है कि उसे वन में नहीं जाना चाहिए, वानप्रस्थ नहीं लेना

चाहिए। इतना ही नहीं, आप देखिए कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही नहीं बल्कि अनेकानेक ग्रन्थों में यह लिखा हुआ है कि जो व्यक्ति एक ही पुरुषार्थ का सेवन करता है या उसकी साधना करता है, अन्य पुरुषार्थों को नकारता है तो वह अपने को ही नष्ट नहीं करता बल्कि दूसरों को भी नष्ट करता है। अगर हम पुरुषार्थ के रूप में केवल धर्म की ही साधना करते हैं या मोक्ष की ही साधना करते हैं या काम की अथवा अर्थ की ही साधना करते हैं तो आप अपने को ही नष्ट नहीं करते बल्कि दूसरों को भी नष्ट करते हैं। अब सवाल है कि पुरुषार्थ का समन्वित रूप क्या है? समन्वित रूप में समझिए कि चारों उसके अंगमात्र हैं। उसे कैसे समझें? अगर ऐसा है तो धर्म और मोक्ष के बारे में इतना चिन्तन क्यों है? उनमें विरोध होगा ऐसा माना गया है। कुछ लोग ऐसा नहीं मानते हैं लेकिन कुछ मानते हैं। कहने का अर्थ यह है कि पुरुषार्थों के बीच संबंध क्या है, कौन सी शक्ति है, कौन सी प्रज्ञा है जो फैसला करती है कि इन पुरुषार्थों के बीच संबंध क्या होना चाहिए? इन्हीं सब बातों के परिप्रेक्ष्य में हमें आज के संदर्भ में नया चिन्तन करना चाहिए। यही कहने की मैंने चेष्टा की है।

जब पुरुषार्थ की बात होती है, तो कर्म की बात होती है, संकल्प की बात होती है, स्वतंत्रता और स्वातंत्र्य की बात होती है कि मैं चयन कर सकता हूँ, मुझे चयन करना चाहिए, मुझमें शक्ति है, बल है। लेकिन कर्म की जब बात करते हैं तो एक समस्या और उत्पन्न होती है। हमारे यहाँ कर्म पर बहुत विचार हुआ है और इतना विचार हुआ है जितना शायद किसी दूसरी सभ्यता या संस्कृति में नहीं हुआ है। कर्म पर विचार दो दिशाओं में जाता है—वह एक दिशा तो लेता ही है, लेकिन जो नहीं लेता है जिस पर अधिक विचार नहीं हुआ है उसकी भी मैं चर्चा करना चाहूँगा। पहली दिशा के बारे में सबको पता है कि कर्म का फल होता है। हम जो कर्म करते हैं वह बंधन का कारण होता है क्योंकि कर्म का फल आपको अवश्य मिलेगा। जैसा करोगे वैसा भोगोगे, भोगने से बच नहीं सकते। यह विचार हमें किस दिशा में ले जाता है? इस कर्म का स्वत्व क्या है? देखिए, कर्म के दो पक्ष हैं जिन पर चिन्तन नहीं हुआ है। कर्म का स्वत्व क्या है? अगर मैं ही अपने किए कर्म का फल भोग

सकता हूँ तो वह कर्म मेरा होना चाहिए। अगर वह कर्म मेरा है तो 'मेरे' होने का अर्थ क्या है? मैं यहाँ इस बात को इसलिए बड़ा रहा हूँ कि यहाँ बड़े विद्वान लोग बैठे हैं, वे मुझे बाद में बताएँ कि क्या मैं ठीक कह रहा हूँ या गलत कह रहा हूँ कि अनेकानेक जो कर्म हैं उनमें स्वत्व का निर्णय बहुत कठिन है। क्योंकि बहुत से कर्म तो ऐसे हैं, उन्हें कोई एक अकेला व्यक्ति कर ही नहीं सकता। हम सब मिलकर काम करते हैं, और बहुत ही कम ऐसे काम हैं जिन्हें कोई अकेला कर सकता है। इसलिए जो सामूहिक कर्म हैं, उनके स्वत्व का निर्णय कैसे किया जाएगा। और सामूहिक कर्म से ही समाज और राज्य बनते हैं, उस सामूहिक कर्म का स्वत्व कैसा होगा, उसका फल कैसे बंटेगा क्योंकि जो कर्म हम सबने मिलकर किया है उसका फल किस आधार पर बंटेगा। यज्ञ में ऋत्विक् काम करते हैं, ऋत्विक् यज्ञ कराते हैं। यजमान संकल्प करता है, उनको धन से खरीदता है, इस संदर्भ में 'कीव' शब्द का प्रयोग ऋत्विकों के लिए किया गया है। पर उस यज्ञ का फल यजमान को मिलता है, कुछ यज्ञों में फल का एक भाग ऋत्विकों को भी मिलता है पर साधारणतः ऐसा नहीं है। पर प्रश्न यह नहीं है कि लिखा क्या है, प्रश्न यह है कि अगर कोई कर्म सामूहिक है तो उसका फल भी सामूहिक होना चाहिए। कर्म का जो स्वत्व है, उस पर चिन्तन बहुत कम हुआ है और हुआ हो तो मुझे जानकारी नहीं है लेकिन जब तक इस पर चिन्तन नहीं होगा, हम कर्म के चिन्तन को आगे नहीं बढ़ा सकते।

अब इसका दूसरा पक्ष देखिए कि जहाँ हमारे चिन्तन ने एक अजीब दिशा ली है कि वास्तव में अगर संसार धर्म की दृष्टि से ठीक होना है तो यह संसार ऐसा होना चाहिए कि मुझे किसी दूसरे के लिए कर्म का फल न भोगना पड़े अन्यथा संसार में बड़ा अन्याय होगा। क्योंकि अगर कर्म कोई करता है और उसका फल किसी दूसरे को मिलता है तो उससे बड़ा अधर्म क्या होगा? पर अगर हम यह मानें कि मेरे किए का फल केवल मुझी को मिलेगा किसी अन्य को नहीं तो मुझे यह भी मानना पड़ेगा कि जो कुछ भी सुख-दुख मुझे होता है उसका कारण केवल मैं ही हूँ, कोई अन्य नहीं। और अगर मुझे ऐसा प्रतीत होता कि कोई अन्य मेरे सुख-दुख का कारण है तो यह वास्तव में एक भ्रम है

जिसका मुझे निराकरण करना चाहिए। पर अगर ऐसा है तो मैं भी किसी 'अन्य' के सुख-दुख का कारण नहीं हो सकता और यदि ऐसा है तो फिर कर्म के शुभ-अशुभ होने का आधार ही क्या रह जाएगा? हम सब एक दूसरे के सुख-दुख के कारण नहीं होंगे केवल निमित्त-मात्र होंगे। वास्तव में तो प्रत्येक के किए का कर्म ही उस सबका कारण होगा जो वह भोगता है और जो वह भ्रम के कारण यह समझता है कि उसके सुख-दुख का कोई दूसरा कारण है। आपने मुझे सुख दिया तो मुझे यह भ्रम होता है कि सुख आपके कारण से ही हुआ है पर वास्तव में ऐसा नहीं है। मैं अपने ही किए कर्मों का फल भोग रहा हूँ। इससे एक नतीजा निकलता है कि अगर आप मेरे सुख-दुख का कारण नहीं हो सकते और इसलिए मुझमें यह भावना उत्पन्न होती है कि आप मेरे सुख-दुख का कारण हैं तो कहीं मैं बहुत भारी गलती कर रहा हूँ। लेकिन इससे एक और नतीजा भी निकलता है और वह यह कि मैं भी आपके सुख-दुख का कारण नहीं हो सकता। पर अगर मैं आपके सुख-दुख का कारण नहीं हो सकता तो आप देखिए कि जो उत्तरदायित्व मैंने महसूस किया कि मैं चेतन प्राणी हूँ, स्वचेतन प्राणी हूँ मेरा धर्म है कि मैं आपको दुख न दूँ, सुख दूँ। या आपको अपने पुरुषार्थ की साधना में मदद करूँ तो यह उसे भी मानना पड़ेगा। लेकिन ऐसा हम कैसे मान सकते हैं कि मैं आपके लिए कुछ कर ही नहीं सकता। मुझे तो यह धर्म मिला था कि मैं आपके लिए कुछ करूँ, मेरी चेतना परहित-केन्द्रित बने। लेकिन कर्म का सिद्धांत अब उसे यह मानने पर मजबूर करता है कि यह तो भ्रम है कि मैं आपके लिए कुछ कर सकता हूँ या आप मेरे लिए कुछ कर सकते हैं। हमने सोचा था कि संसार के बारे में ऐसा सोचें जिसमें अन्याय न हो।

आप समझने की कोशिश कीजिए कि कर्म पर इस विचार की प्रक्रिया ने मुझे कहाँ लाकर खड़ा कर दिया है? न मैं दूसरों के लिए कुछ कर सकता हूँ और न दूसरे मेरे लिए कुछ कर सकते हैं। तब यह कैसा संसार बना, यह तो बहुत बेकार संसार है जहाँ धर्म हो ही नहीं सकता। आपके कर्म की भावना ने, कर्म के चिन्तन ने आपको ऐसी दशा में

लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ समाज के बारे में सोचा ही नहीं जा सकता।

परन्तु कर्म का एक आयाम और भी है जिसे हम अंगअंगीभाव या अवयव-अवयवी भाव कह सकते हैं। यज्ञ के बारे में मीमांसा में इस पर चिन्तन हुआ है। अगर आप सोचें तो यह चिन्तन हमें एक अन्य दिशा में ले जाता है कि कर्म का जो अवयव-अवयवी भाव है, वह कैसे कर्म के नए-नए क्षेत्रों को जन्म देता है?

अब, जरा देखिए कि हम किस परेशानी में पहुँच गए हैं जो हमारे विचार ने हमारे लिए उत्पन्न की है। कर्म की भावना हमारे धर्म से जुड़ी हुई है और कर्म पुरुषार्थ से जुड़ा हुआ है। और पुरुषार्थ स्वातंत्र्य से जुड़ा हुआ है पर कर्म के बारे में जब हम सोचने बैठे तो ऐसे नतीजे पर पहुँचे जो किसी को स्वीकार नहीं हो सकता-मैं आपके लिए कुछ नहीं कर सकता, आप मेरे लिए कुछ नहीं कर सकते-जब एक-दूसरे के लिए कोई कुछ नहीं कर सकता तो समाज और राज्य कैसे बनेगा? आपका जो सामाजिक चिन्तक था, राजनैतिक चिन्तक था, जिसकी कभी चर्चा ही नहीं होती है, उसने कर्म के बारे में भिन्न प्रकार से चिन्तन किया-उनका कहना था कि ये सोचने की दिशा ही गलत है। अगर हमें समाज को बनाना है, अगर हमें राज्य को ठीक करना है तो हमें कर्म के बारे में भिन्न प्रकार से चिन्तन करना होगा। इस बारे में उन्होंने क्या कहा है? एक ओर तो उन्होंने राज्य को जो कुछ भी समाज या राज्य में होता है उसका मूल कारण माना। इस संदर्भ में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'राजा कालस्य कारणम्'। पर 'राज्य' का अर्थ क्या होता है? राज्य का आशय उन सब व्यक्तियों से है जो राज्य-धर्म का परिपालन करते हैं या जिनके पास राज्य को चलाने का उत्तरदायित्व है। काल का अर्थ यहाँ समाज या संस्कृति की उस स्थिति से है जो किसी भी समय पाई जाती है। और इसलिए यह कहा जा रहा है कि समाज या संस्कृति की जो भी अवस्था है उसके लिए वे लोग उत्तरदायी हैं जो उस राज्य की व्यवस्था को चलाते हैं या जिन पर उसको चलाने का उत्तरदायित्व है। अब राज्य का कर्तव्य क्या है? जिसे अंग्रेजी में 'पोलिटिकल फंक्शन' कहते हैं। इस

संदर्भ में जो हमारे यहाँ विचार हुआ है उसमें यह कहा गया है कि प्रजा जो कर्म करती है, पाप-पुण्य करती है, उसका छठवाँ भाग या चौथाई भाग राजा को मिलता है—समाज की यह नई परिकल्पना है कि हम जो कुछ भी करते हैं वह राजा के अपना धर्म निभाने पर आश्रित है या दूसरी तरह से कहें तो जो लोग 'पोलिटिकल फंक्शन' Exercise करते हैं या राजकर्म करते हैं, उन पर समाज अपने कर्म के लिए आश्रित होता है। यह राजकर्म-केन्द्रित विचार है, समाज को राज्य से विलग नहीं किया जा सकता, हमारे कर्म की स्थिति, हमारे पुरुषार्थ की स्थिति, हमारे पाप और पुण्य की स्थिति राज्य पर आश्रित है। अगर हम इस बात को देखें तो इस बात पर ध्यान दें तो इसमें परस्पर आश्रितता की भावना मिलती है। हम एक-दूसरे पर आश्रित नजर आते हैं। आपको आश्चर्य होगा कि पुरुषार्थों पर विचार के संदर्भ में अन्योन्याश्रितता की बात कही गई है कि सब पुरुषार्थ एक-दूसरे पर आश्रित हैं परन्तु यह बात पुरुषार्थों को एक अन्य दृष्टि से देखने पर उत्पन्न होती है लेकिन जिन लोगों ने पुरुषार्थों को अन्योन्याश्रित माना, उन्होंने भी यह नहीं देखा कि मेरी पुरुषार्थ-साधना किसी अन्य के अपने पुरुषार्थ पालन पर निर्भर करती है और इसलिए उस पर आश्रित है। पर यह सवाल उठता है कि क्या इन सब अन्योन्याश्रितता का कोई मूल केन्द्र-बिन्दु है। उसको हमारे विचारकों ने राज्य की सत्ता में केन्द्रित माना था। अगर राज्य ठीक नहीं चलता तो हम अपने-अपने पुरुषार्थ का पालन नहीं कर सकते, हम धर्म का पालन नहीं कर सकते। धर्म के पालन के लिए आवश्यक है, अनिवार्य है कि राजधर्म का पालन ठीक तरह से किया जाए—'राजा कालस्य कारणम्'—और जो प्रजा है, प्रजा का जो पाप और पुण्य है, राजा उसका भागी है, कर्म के बारे में यह एक नया विचार है। यह कर्म उस प्रकार का नहीं है, जिसे हम कर्म का सिद्धांत कहते हैं, कर्मफल का सिद्धांत कहते हैं—बल्कि यह एक समाज के बारे में चिन्तन है जो अन्योन्याश्रित है, जहाँ एक का पुरुषार्थ दूसरे के पुरुषार्थ में सहायक होता है, बाधक नहीं होता है, क्या इस विचार को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता?

अब मैं समाप्त करना चाहूँगा। वास्तव में यह एक नई दिशा थी, जिस पर विचार को आगे नहीं बढ़ाया गया है। समाज के संदर्भ में वर्ण पर विचार हुआ है और मैं इसके बारे में केवल एक ही बात कहूँगा कि वर्ण के बारे में विचार हमेशा पुरुष सूक्त रूप से लिया जाता है, लेकिन वास्तव में परम्परा ने पुरुष सूक्त को उस रूप में नहीं लिया है जिस रूप में उसे लेना चाहिए। पर अगर मैं इस पर चर्चा करूँगा तो वह चर्चा बहुत लंबी हो जाएगी लेकिन इशारा जरूर करना चाहूँगा। यजुर्वेद के तीसवें भाग में आप पढ़ें तो आपको आश्चर्य होगा कि उसमें कितनी जातियों के, कितने वर्णों के नाम गिनाए गए हैं, और उनका अंत किस प्रकार से होता है? 'अब्राह्मणः असूदः प्राजापत्यः' कि ये सब जो हैं, वे न तो ब्राह्मण हैं और न शूद्र हैं— यहाँ वैश्य और क्षत्रिय का तो सवाल ही नहीं है पर फिर भी प्रजापति की संतान हैं। अब सवाल है कि यह प्रजापति कौन है? प्रजापति वही है जिन्हें ऋग्वेद में कहा गया है—'कस्मयी देवायः हविषा विदेहम्' किस देवता को हवि दें, अंत में कहा गया कि प्रजापति को दें—प्रजापति कौन है? जो इस जगत् की सृष्टि करता है। वर्ण के विचार को कैसे समझा जाए, कैसे आगे बढ़ाया जाय, यह वैसी ही बात है जैसे पुरुषार्थ के विचार की है। हम लोगों को परम्परा से जो कुछ मिला है, पहले तो हमें उसका पता ही नहीं है और जो कुछ भी पता है उसको हम इस तरह पकड़ कर बैठे हैं जैसे वह समाप्त हो चुकी है उसमें कोई गति नहीं है, प्रवाह नहीं है, नदी की धारा की तरह उसमें आगे बढ़ने वाला कुछ भी नहीं है। जब तक हम उसके इस प्रवाहात्मक स्वरूप को नहीं समझेंगे, उसे नहीं अपनाएंगे, उसे आत्मसात् नहीं करेंगे, तब तक वह हमारे विचार का अभिन्न अंग नहीं बनेगी, जब तक हम उसकी इस प्रवाह प्रक्रिया में स्वयं अपने को केन्द्रित नहीं करेंगे और अपना यह उत्तरदायित्व नहीं समझेंगे कि हम अपनी स्वयं की शक्ति के अनुसार, अपनी बुद्धि के अनुसार, उसे कैसे आगे ले जाएँ, तब तक मैं समझता हूँ कि न हमें अपनी संस्कृति की अस्मिता की पहचान होगी और न अपनी अस्मिता की। ये बातें बहुत गहरी हैं। आप जिन्दगी में भारतीय होने के लिए चाहे त्योंहार मनाएँ, पूजा-पाठ करें, ध्यान करें, पर केवल इससे ही 'भारतीय' होना मुश्किल

है। लेकिन ये सब अपने आप में ठीक हैं लेकिन ऐसा नहीं हो सकता। मैं दोहराता हूँ कि यह नहीं हो सकता कि चिन्तन के क्षेत्र में तो किसी की सारी कोटियाँ पश्चिम की हों, सारी समस्याएँ पश्चिम की हों, सारे प्रश्न पश्चिम के हों। तो भी वह 'भारतीय' हो सकता है। अगर हमारी बुद्धि पश्चिम की धरोहर के संदर्भ में ही चलेगी तो भारतीयता नहीं रह सकती- अब रहनी चाहिए या नहीं, यह अलग प्रश्न है इसके बारे में मुझे यहाँ कुछ नहीं कहना है। लेकिन यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि केवल अध्यात्म, परम्परा, संगीत, नृत्य या केवल साहित्य या इन चीजों के माध्यम से आप अपनी संस्कृति को जीवित रख सकते हैं। संस्कृति को जीवित रखने के लिए आपको उस संस्कृति का विशाल बौद्धिक वैभव स्वीकार करना होगा, जो आपको ढाई हजार साल से विरासत में मिला है, उसे आपको आगे बढ़ाना होगा, अपनी बुद्धि के अनुसार अपनी क्षमता के अनुसार आगे बढ़ाना होगा। नमस्कार!

**प्रो० वाचस्पति उपाध्याय :** श्रद्धेय प्रो० दयाकृष्णजी, श्री बिशन टण्डनजी, संयोजक, भाई कमलकिशोर गोयनकाजी, इस सभा में बैठे हुए श्रद्धेय प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेयजी और बौद्धिक उपासना के स्रोत में अवगाहन करने वाले मेरे आदरणीय विद्वान् एवं विदुषी श्रोतागण!

अस्मिता की चर्चा आपके सामने हो रही है और परिवेश संस्कृति का है, व्यष्टि का है। व्यष्टि से समष्टि की तरफ कैसे बढ़ें-इसकी एक उत्कण्ठा है हम सबमें। हमारे विद्वान् वक्ता ने हमें विविध चिन्तन के घेरे में पहुँचाया है और अनेक उत्तरदायित्वों के बीच में लाकर हमें खड़ा कर दिया है। भारतीय सांस्कृतिक-चिन्तन के धरातल पर जो मूल प्रश्न हैं, यहाँ उठाये गये हैं, वे प्रश्न पहले भी उठाये गये थे। मुझे अच्छी तरह याद आता है, जब मैं वेदान्त दर्शन पढ़ रहा था तो **“लोकवतुलीलाकैवल्यम्”** सूत्र को आचार्यश्री ने आज से लगभग ३४ वर्ष पहले पढ़ाया होगा। उसमें एक आक्षेप था कि निर्गुण-ब्रह्म के साथ चेतना जुड़ी रहती है सगुण-ब्रह्म की, वैषम्य और नैर्घृण्य के दोष की चर्चा थी, विषमता का दोष आरोपित हुआ था फल देने में भी। सांख्यदर्शन के सूत्रकार ने पुरुषार्थ की परिभाषा की-त्रिविधि दुःख से अत्यन्त निवृत्ति

के लिये परम-पुरुषार्थ की चर्चा की तथा सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण ने कहा-

**“दृष्टवदानुश्रविकः सह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः  
तद्वीपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥”**

श्रद्धेय प्रो० दयाकृष्णजी ने कहा है कि श्रुति और शास्त्र भिन्न हैं, जो आक्षेप पुरुषार्थ पर उठाये गये हैं, उन आक्षेपों को सहन करने की क्षमता हमारी श्रुति-परम्परा में थी लेकिन शास्त्र श्रुति से उत्पन्न होता है। वेदान्त दर्शनकार कहते हैं-

**“शास्त्रयोनित्वात् तद्विजिज्ञासा ततु ब्रह्मेति”**

इसमें पुरुषार्थ की चरम कल्पना की गई है, लेकिन जिस पुरुषार्थ के विषय में आज हमने सुना, उससे उसके अभिनव अभिप्राय को समझा। भारतीय चिन्तन में सूत्र गन्तव्य एवं प्राप्तव्य की चर्चा करता है। जिज्ञासा किसकी करनी है, धर्म की करनी है अथवा ब्रह्म की करनी है। **“अथातो धर्मम् व्याख्यास्याम्”** सूत्र के बाद-**“यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः”** भी महत्वपूर्ण है।

धर्मपूर्वक अर्थ-प्राप्ति हो, धर्मपूर्वक कामनाओं को पूर्ण किया जाय तो चरम पुरुषार्थ 'मोक्ष' की प्राप्ति सहज हो जाती है।

धर्म, अर्थ, काम में ठीक समन्वय होगा तो उससे मोक्ष की प्राप्ति होगी परन्तु एक बहुत अच्छा विचार हमें तब मिला जब आपने कहा कि हमें मन के साथ भी जुड़ना है, हम आज मन के साथ जुड़ ही नहीं पा रहे हैं, बड़े अनमने से हैं क्योंकि हमें मन की जो पारम्परिक परिभाषा मिली उसमें मन को संकल्प और विकल्प के साथ जोड़ा गया है। संकल्प और विकल्प से युक्त मनुष्य की अन्तःकरण वृत्ति ही मन है लेकिन उस मन में हमारी सोई आस्था जाग जाए, उस मन के साथ हम ठीक हो जाएँ तो श्रुति कहती है-**“तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु”**-वह शिवसंकल्प यदि हमारे मन में आ जाए तो शायद बौद्धिक धरातल पर यह झगड़ा

ही नहीं रह जायेगा। हमारे यहाँ शब्दों का बड़ा अद्भुत खेल है। हम वाद करते हैं, संवाद करते हैं, विवाद करते हैं, प्रतिवाद करते हैं, लेकिन वाद की स्थिति से उठकर यदि अन्तःकरण अपने में संवाद करने लगता है, यदि बुद्धि का मन के साथ संवाद चल पड़े तो परिणाम रमणीय होगा। यदि हम 'अभिमान' शब्द को हिन्दी से लेंगे तो कहीं न कहीं 'हतवर्चस्' हो जाएँगे, हमारी समझ में उसका अर्थ नहीं आयेगा—यह अभिमान कुछ और नहीं है—अहम्—अस्मिता ही है। अहं कर्ता, अहं भोक्ता—तो कर्तव्य, भोक्तृत्व, सुख, दुःख की इच्छा में पड़ा हुआ मनुष्य कभी ऊँची चेतना के साथ युक्त ही नहीं हो सकता। जीवन के चरम पुरुषार्थ में मोक्ष पर बड़ी जिज्ञासायें हुई हैं, कर्म के सिद्धान्त पर बड़े तार्किक दृष्टि से प्रहार हुए हैं और जिस बात को न्याय-दर्शन ने पकड़ा, उसी के संबंध में अभी थोड़ी देर पहले मैं जिज्ञासा के भाव से चर्चा कर रहा था - "कृतप्रणाश और अकृताभ्युपगम" - जिसने किया उसे तो मिला नहीं। संकल्प करके बैठा हुआ यजमान अनमना सा अपने व्यापार को देखता रहता है, कर्मकाण्ड-निष्णात आचार्य जितनी देर तक चाहें उसे बैठाकर, उसके संकल्प की पूर्ति में जो कुछ वह प्राप्त करना चाहता है, वे उसे करा दें। इसीलिए मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारा जो कर्म है, जिसकी खोजबीन हम कर रहे हैं, ऐसा हम सोचें कि हमारा कोई जन्मान्तर भी होगा। भारतवर्ष के जन्मान्तरवाद तथा कर्मवाद के सिद्धान्त पर बहुत प्रखर प्रहार हुए हैं लेकिन 'टोटैलिटी' में, अखण्डता में उस कर्म के सिद्धान्त को देखने से कहीं हमने अपने आप को अलग-थलग किया है। कर्म केवल वही नहीं है जो मीमांसा कहती है। प्रो० दयाकृष्णजी ने अभी सामूहिक कर्म की चर्चा की, पाणिनी को जब 'यज्ञ' शब्द का अर्थ करने का प्रसंग आया तब पाणिनी ने उसे एक सामाजिक आयाम दिया, देवपूजा के साथ-साथ उन्होंने संगतिकरण में भी उसका अर्थ किया—कोई व्यक्ति जब अपनी 'फैक्ट्री' कहीं खोलता है, उसमें जब तक वह नियोज्य और नियोजक के संबंध को नहीं परखता है, तो 'फैक्ट्री' में 'लॉक-आउट' होता रहता है। जब वह यज्ञ की भावना से संगतिकरण करता है तब वह अपने को ब्रह्मा के स्थान पर ले जाता है, है, अध्वर्यु, उद्गाता को ले जाता है, ऋतत्व को बैठाता है, उस स्थिति

में वह पांचजन्य पुरोहित बन जाता है। स्वयं यज्ञ का मन्त्र पढ़ने वाला पुरोहित भी बनता है और यजमान भी बनता है। जब आस्था के बिन्दु ऐसे मिलते हैं तो आनन्दमयी माँ के शब्दों में यह कर्म का सिद्धान्त कहीं 'वेदान्त' हो जाता है और 'वेदान्त' से व्यक्ति 'भेदान्त' के स्तर तक पहुँचता है। यही 'भेदान्त' हमारा चरम है। इस चरम की उपलब्धि के लिए हम कितनी भी उसकी व्यष्टि और समष्टि की व्याख्या को अपने आप बटोरें लेकिन देखना यही होगा, जैसा गीता में कहा गया है—

**“उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्”**

कहीं भी यह प्रक्रिया उल्लिखित नहीं हुई है कि हम सर्वभूत के हित में रत न रहें, उससे विरत हों तो लोक-कल्याण नहीं हो सकता। यदि ऐसा नहीं होता तो गीता कभी लोक-संग्रह की चर्चा ही न करती। गीता में आया हुआ लोक-संग्रह शब्द हमें इतने ही मुखर रूप में कहता है कि समस्त दर्शन में लोक की यदि बात नहीं है तो शास्त्र का प्रयोजन क्या स्वीकार करेंगे। इसलिए अक्षर से उत्पन्न हुआ, यह जितना कुछ है, उससे अक्षर की बात को समझने का प्रयास हम करते हैं लेकिन जब कोई आचार्य उस पर व्याख्यान देते हैं तो हमें कहाँ पहुँचाते हैं। मैं बड़ा कृतज्ञ हूँ आयोजकों का कि मेरे जैसे सामान्य दर्शन के छात्र को अध्यक्षता के लिए यहाँ बैठाया। प्रो० दयाकृष्ण ने एक अद्भुत अनुठी कल्पना दर्शन को दी है कि यदि उसे समाज से हम नहीं जोड़ सके, लोक-कल्याण के साथ नहीं जोड़ सके तो लाभ क्या होगा? सम्प्रदाय शब्द हमारी परम्परा में बड़ी उदात्त भावना का द्योतक है। न्याय-वार्तिक में उद्योतकर ने गुरु-शिष्य की अविच्छिन्न परम्परा को सम्प्रदाय से उद्बोधित किया है। आज के युग में यदि कोई दार्शनिक आचार्य हमें पुरुषार्थ के उस आयाम से जोड़ देता है, जहाँ अन्तःकरण की बात उठती है, जहाँ पुरुषार्थ का अर्थ काम नहीं, मोक्ष नहीं, वह प्राचीन परिभाषा नहीं, तो ऐसा लगता है कि चिन्तन में कुछ ताजगी आ गयी। कुछ सोचने की सामग्री मिली।

बड़ी तपस्या के बाद ऋषि बनते हैं, मुनि बनते हैं। आज तो बड़ी भीड़ है, बड़े महर्षि हो गये हैं, बड़े मुनि हो गये हैं, बड़ी चेतना वाले

हो गये हैं लेकिन उस चेतना में, मैं बड़े सतर्क भाव से कहना चाहता हूँ, हमारे यहाँ ये शब्द बहुत कठिन थे। आज हमें उस अन्तःकरण के साथ प्रो० दयाकृष्ण ने जोड़ा। हमने मन को समझा, बुद्धि को समझा और अहंकार को बड़े उदात्त भाव से समझा। आइए, उनके साथ उस ज्ञान-यज्ञ में आनन्द उठाएँ और अपने लोक-कल्याण को लेकर वेदों के उन ऋषियों के साथ अपने को जोड़ें, जहाँ हर मन्त्र के साथ 'न्न मम्' का स्मरण किया जाता है। याज्ञिक कहता है -

“अग्नये स्वाहा, इदम् अग्नये न्न मम्।  
सोमाय स्वाहा, इदम् सोमाय न्न मम्।  
इन्द्राय स्वाहा, इदम् इन्द्राय न्न मम्।”

किन्तु आज 'इदम् मम्' से बड़ा भारी संघर्ष हो रहा है।

अस्मिता से बात शुरू हुई थी। पातंजल योगदर्शन में अस्मिता तो अविद्या से उत्पन्न हुई मानी गयी है, परन्तु अगर यह सात्विक हो तो हमारे अन्दर एक चेतना को जागृत करती है। प्रथम सूक्त पर आपने एक संकेत किया है, मैं कुछ नहीं कहना चाहता लेकिन आपके धैर्य की परीक्षा होती है। उस धैर्य की परीक्षा, जो वक्ता के सुदृढ़, सुनियोजित, तर्कपूर्ण और विवेकपूर्ण वक्तव्य को सुनने में नहीं है, जितनी इसके मनन करने में है। इसलिए आचार्यजी ने मनुष्य की परिभाषा देते हुए अपने विचार को बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया। मेरा एक निवेदन है कि मनुष्य तभी है जब वह “मत्वा कर्माणि सीव्यति” - मनन-पूर्वक जब वह अपने कर्म को सीता है, 'स्टिच' करता है। यह कर्म कौन सा है? यह अपने प्रति उत्तरदायित्व का जागरण है, समाज के प्रति, व्यक्ति के प्रति, परिवार के प्रति, एक छोटी सी 'फैमिली-यूनिट' में, उसका क्या कर्तव्य है? कर्म सचमुच में बड़ा गहन है, नहीं तो श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् को कहना न पड़ता -

“किं कर्म किमर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः”

यह 'मोहित' शब्द भी अपने में बड़ा सम्मोहन उत्पन्न करता है। सम्मोहन में तो 'मिसमैरिज्म' है, पकड़ लेता है परन्तु मोहित होकर यह समझ नहीं पाता कि मैं क्या कर रहा हूँ? मुझे क्या करना चाहिए था? क्या कर बैठा? यह मेरा इष्ट था या अनिष्ट था? अनिष्ट होने के बाद प्रायश्चित् का विधान हमारे धर्मशास्त्र में किया गया है, एक चेतना दी गई है कि आगे मत करना-हमारे सामने बड़ा भारी सांस्कृतिक संकट है, रास्ते में रुकावटें हैं।

यह भारतीय-चिन्तन गुत्थियों का शास्त्र नहीं है। 'हुत' की 'चिकीर्षा' लोगों को हुई, करने की इच्छा हुई, सोचने की इच्छा उत्पन्न हुई और हमारे यहाँ बराबर चिन्ता की गई। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है -

“व्याख्यानतो कि विशेषप्रतिपत्तिः न तु सन्देहादलक्षणम्”

व्याख्यान का यहाँ पुरुषार्थ में, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार वाली बात श्रद्धेय आचार्य जी, मैं नहीं करता, लेकिन कुछ मामला है जरूर। वह पुरुषार्थ बन ही नहीं पायेगा। आप कितनी भी परिभाषा ले आएँ-“धृ” धारणपोषणयोः।

धारण करता है, पोषण करता है, फिर भी धर्म पर आक्षेप हो ही जायेगा। कर्तव्य पर यदि आप ले आएँ तो, मीमांसा की बात अभी गुरुमुख से सुनने को मिली। परन्तु एक वाक्य मैं कहता हूँ -

शबर स्वामी कहते हैं कि जहाँ धर्म का लक्षण किया गया, वहाँ धर्म के लक्षण में प्रवृत्त कौन हो सकता है - वहाँ व्यवच्छेदक धर्म है, व्यावर्तक धर्म है। यदि भूत की बात भी करते हो, वर्तमान की बात भी करते हो, भविष्य की बात भी करते हो, ऐसा सामान्य व्यक्ति कर ही नहीं सकता, कोई साक्षात्कृत धर्मा ऋषि ही ऐसा कर सकते हैं! हम शास्त्र की बात तो कर सकते हैं :-



---

“कोऽसि कतमोऽसि, कस्यासि, किन्नामासि” - नामकरण संस्कार में प्रश्न उठता है कि तुम कौन हो, किससे हो? आज संस्कृति हमसे यही प्रश्न कर रही है। हमारे एक विद्वान् वक्ता मुझे प्रश्न करें कि तुम कौन हो, किससे हो और फिर वही कहें - कस्यासि? सांख्यदर्शन में ऐसा ही अद्भुत प्रश्न था - “नास्मि न मे नाहमिति परिशेषम्” कैवल्यभाव प्राप्त करोगे तो विशुद्ध कैवल्यभाव जब तक इसे विगलित नहीं कर देते, खंडित कर नहीं देते, इसका अन्त नहीं कर देते, ‘नास्मि’ का ‘न मे’ का ‘नाहम्’ का “अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्” तब तक तत्व नहीं मिलता।

मित्रो, मुझे पूर्ण विश्वास है कि ‘नास्मि न मे नाहम्’ सबमें ‘अस्मि’ है ‘मे अहं’ है कृष्ण लेकिन इन सबको पुरुषार्थ के साथ जोड़ने की बात मननीय है। मैं विद्वान् वक्ता प्रो० दयाकृष्ण का वन्दन एवं अभिनन्दन करता हूँ।